Visit Dwarkadheeshvastu.com For
FREE Vastu Consultancy, Music, Epics, Devotional Videos
Educational Books, Educational Videos, Wallpapers
****
All Music is also available in CD format. CD Cover can also be print with your Firm Name
****
We also provide this whole Music and Data in PENDRIVE and EXTERNAL HARD DISK.
Contact : Ankit Mishra (+91-8010381364, dwarkadheeshvastu@gmail.com)

****

MANUSHYA KA KARTAVYA

BHAG (1)

(Hindi)

****

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-गीताके अनुसार मनुष्य अपना कल्याण करनेमें स्वतन्त्र है	... ५
२-मानवता और वर्णाश्रम धर्म	... १५
३-इन्द्रियों और मनका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद, संयम और वैराग्य	... ५८
४-भक्तों और ज्ञानियोंके लिये भी शास्त्र-विहित कर्मोंकी परम आवश्यकता	... ६९
५-लोकसंग्रहका रहस्य	... ८३
६-संयमसे आत्मोद्धार	... ९१
७-सत्यकी महिमा	... १०१
८-प्रारब्ध और पुरुषार्थका रहस्य	... १०७
९-अपने उत्थानके प्रयत्नकी परम आवश्यकता	... ११६
१०-साधन तेज न होनेमें अश्रद्धा ही प्रधान कारण है	... १२५
११-साधनको साध्यसे भी अधिक आदर देना चाहिये	... १४१
१२-आद्याशक्ति भगवती देवी और ब्रह्मकी एकता	... १६०
१३-भगवदर्थ कर्म और भगवान्‌की दयाका रहस्य	... १७२
१४-चतुःश्लोकी भागवत	... १७९

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

मनुष्यका परम कर्तव्य

गीताके अनुसार मनुष्य अपना कल्याण करनेमें स्वतन्त्र है

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें जो उपदेश दिया है, वह किसी सम्प्रदायको सामने रखकर नहीं दिया है। वह तो सबके लिये समानरूपसे पालनीय है। इसीलिये गीता सार्वजनिक ग्रन्थ है। गीताके उपदेशका हिंदू तो आदर करते ही हैं, कितने ही इस्लामधर्मके माननेवाले मुसलमान तथा ईसाईधर्मको माननेवाले लोग एवं अन्यधर्मावलम्बी लोग भी इसका आदर करते हैं। जर्मनी, अमेरिका आदि देशोंके निवासियोंने इसका बहुत आदर किया है।

सुना गया है कि योरपके किसी एक बड़े भारी पुस्तकालयमें अनेक देशोंकी भाषाओं और लिपियोंकी पुस्तकें लाखोंकी संख्यामें एकत्र थीं, जो सुव्यवस्थापूर्वक आलमारियोंमें सजायी हुई थीं। उस पुस्तकालयके बड़े हालके मध्यमें टेबलपर सुन्दर वस्त्रके ऊपर श्रीमद्भगवद्गीताकी एक पुस्तक रखी हुई थी। वहाँ एक भारतवासी सज्जन गये, उन्होंने उस पुस्तकालयके प्रधानसे पूछा—'टेबलपर सजाकर रखी हुई यह कौन-सी पुस्तक है!' उन्होंने उत्तरमें कहा—'श्रीमद्भगवद्गीता।' भारतीय सज्जनने पूछा—'भगवद्गीता क्या है?' इस प्रश्नको सुनकर उन अधिकारी महोदयको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने हँसकर कहा—'बड़े आश्चर्यकी बात है कि आप भारतमें रहकर भी भारतके प्रधान और उच्चकोटिके महापुरुष श्रीकृष्णके द्वारा अपने प्रिय मित्र अर्जुनको दिये हुए उपदेशरूप श्रीमद्भगवद्गीता-ग्रन्थको नहीं

जानते ! यह तो बहुत ही लज्जाकी बात है। यह सुनकर वे भारतीय सज्जन बड़े लज्जित हुए। उनपर उस प्रधानके उपर्युक्त वचनोंका बड़ा असर पड़ा। उन्होंने कहा—'मैंने नाम तो सुना था, पर इसे देखा न था; अब मैं इसका अध्ययन करूँगा।'

जिस गीताका आदर भारतेतर देशोंमें भी है, उसका हम भारतीय लोग जितना आदर करना चाहिये, उतना नहीं करते—यह बड़ी ही लज्जा और दुःखकी बात है।

गीता बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह भगवान्‌की वाङ्मयी मूर्ति है, भगवान्‌का निःश्वास है और भगवान्‌के हृदयका भाव है। यह उपनिषद् आदि सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार है। गीताकी भाषा बहुत ही सरल, सुन्दर और भावपूर्ण है। गीताके अध्ययनका महत्त्व गङ्गास्नान और गायत्रीजपसे भी बढ़कर कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं है। इसका श्रवण, कथन, गायन और स्मरण—सभी परम मधुर और परम कल्याणप्रद है।

गीतामें अठारह अध्याय हैं, सात सौ श्लोक हैं; उनमें बहुत-से ऐसे श्लोक हैं, जिनमेंसे एक श्लोकको भी यदि मनुष्य अर्थ और भावसहित मनन करके काममें लाये तो उसका उद्धार हो सकता है। यहाँ गीताके एक श्लोकके विषयमें कुछ विचार किया जाता है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(६।५)

'अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु।'

इस श्लोकमें प्रधान चार बातें बतलायी गयी हैं—

१-मनुष्यको अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहिये।

२-मनुष्यको अपने द्वारा अपना अधःपतन नहीं करना चाहिये।

३-मनुष्य आप ही अपना मित्र है।

४-मनुष्य आप ही अपना शत्रु है।

अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य जिससे अपना परम हित—कल्याण हो, उस भाव और आचरणको तो ग्रहण करता है और जिससे अपना अधःपतन हो, उस भाव और आचरणका सर्वथा त्याग करता है, वही अपने द्वारा अपना उद्धार कर रहा है। इसके विपरीत, जो मनुष्य जिससे अपना अधःपतन हो, उस भाव और आचरणको तो ग्रहण करता है तथा जिससे अपना कल्याण हो, उस भाव और आचरणको ग्रहण नहीं करता, वही अपने द्वारा अपना अधःपतन करता है। अतः जो मनुष्य अपने द्वारा अपने उद्धारका उपाय करता है, वह स्वयं ही अपना मित्र है; इसके विपरीत, जो मनुष्य समझ-बूझकर भी अपने कल्याणके विरुद्ध आचरण करता है, वह स्वयं ही अपना शत्रु है।

अब यह भलीभाँति विचार करना चाहिये कि अपने द्वारा अपना उद्धार करना क्या है और अपने द्वारा अपना अधःपतन करना क्या है।

शास्त्रोंमें कल्याणके लिये बहुत-से उपाय बतलाये गये हैं और सज्जन पुरुष भी हमारे कल्याणकी बहुत-सी बातें कहते हैं। उन सबपर एवं उनके सिवा भी जो आजतक आपने पढ़ा, सुना, समझा है, उसपर तथा उसके अतिरिक्त भी, ईश्वरने आपको जो बुद्धि, विवेक और ज्ञान दिया है, उसका आश्रय लेकर पक्षपातरहित हो आपको गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। इस प्रकार गम्भीर विचार करनेपर आपकी बुद्धिमें संशय और भ्रमसे रहित जो कल्याणकर भाव और आचरण प्रतीत हो, उसको सिद्धान्त मानकर तत्परतापूर्वक कटिबद्ध हो उसका सेवन करना और उसके विपरीत भाव और आचरणका कभी सेवन न करना—यही अपने द्वारा अपना उद्धार करना है। इसी प्रकार जो भाव

और आचरण हमें विचार करनेपर लाभप्रद प्रतीत हो, उसका सेवन न करना और जो पतनकारक प्रतीत हो, उसका सेवन करना अपना अधःपतन करना है।

संसारमें जितने भी हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी, सिख आदि मत और सिद्धान्त माने जाते हैं, उन सबसे आदरपूर्वक निरपेक्ष होकर पक्षपातरहित हो समभावसे विवेकपूर्वक गम्भीरतासे अपनी बुद्धिके द्वारा निर्णय करते हुए विचार करना चाहिये कि परम कल्याणदायक भाव और आचरण कौन-से हैं और उनके विपरीत पतनकारक भाव और आचरण कौन-से हैं। एवं इसके लिये जो-जो बातें अपने मनमें आयें, उनपर सोच-विचार करके निर्णय की हुई बातोंकी हमें दो श्रेणियाँ बना लेनी चाहिये—(१) कल्याणकारक अच्छी बातें और (२) पतनकारक बुरी बातें। जो कल्याणकारक बातें हों, उनको दाहिनी ओर रखें और जो पतनकारक बातें हों, उनको बायीं ओर रखें। इस प्रकार अलग-अलग दो पंक्तियाँ बन जायँगी, जिनमेंसे दाहिनी ओरकी पंक्ति ग्रहण करनेके लिये एवं बायीं ओरकी पंक्ति त्याग करनेके लिये होगी। उदाहरणके लिये—

१-एक ओर सद्व्यवहार है और दूसरी ओर दुर्व्यवहार। अब यह निर्णय करना है कि इन दोनोंमें कौन उत्तम और कल्याणकारक है तथा कौन निकृष्ट और पतनकारक है।

एक मनुष्य आपके साथ अपना स्वार्थ और अभिमान छोड़कर बहुत उत्तम श्रेणीका व्यवहार करता है तो इससे आपको कितनी प्रसन्नता और शान्ति मिलती है। आपके हृदयपर यह असर पड़ता है कि इसने मेरे साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया। अतः इससे आपको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि आप भी दूसरोंके साथ ऐसा ही उत्तम व्यवहार करें। इसके विपरीत, कोई व्यक्ति आपके प्रति अत्याचार करता

है, दुर्व्यवहार करता है, आपका अपमान करता है तो उससे आपके चित्तमें क्रोध, भय, अशान्ति और क्षोभ हो जाते हैं। आपके चित्तमें उसके व्यवहारका यह असर पड़ता है कि इसने मेरे साथ बहुत अनुचित और बुरा बर्ताव किया। अतः उससे आपको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि आप ऐसा दुर्व्यवहार किसीके साथ न करें।

इससे यह निर्णय हो जाता है कि सद्व्यवहार ही उत्तम और कल्याणकारक है तथा दुर्व्यवहार निकृष्ट और पतनकारक है। अतः सद्व्यवहारको दाहिनी पंक्तिमें और दुर्व्यवहारको बायीं पंक्तिमें रखें।

२-एक ओर समता है और दूसरी ओर विषमता। इन दोनोंमें कौन उत्तम और कौन निकृष्ट है—इसका निर्णय करें। विचार करनेपर यही निर्णय होता है कि समता ही अमृत है और विषमता (राग-द्वेष) ही विष है, जो सब अनर्थोंकी जड़ है। अतः समताको दाहिनी ओरकी पंक्तिमें और विषमताको बायीं ओरकी पंक्तिमें रखें।

३-एक ओर दूसरोंका हित करना है और दूसरी ओर दूसरोंका अहित करना। इन दोनोंमेंसे कौन उत्तम है, इसपर विचार करनेपर यही निर्णय प्राप्त होता है कि किसीको दुःख न पहुँचाकर अहंकार, ममता, स्वार्थ और आसक्तिसे रहित हो तन, मन, धन आदिद्वारा हर प्रकारसे उसको सुख पहुँचाना ही अपने लिये कल्याणकारक और उत्तम है। इसके विपरीत काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदिके वशमें होकर किसी भी प्रकार कहीं कभी किसी निमित्तसे किसी प्राणीकी आत्माको किंचिन्मात्र भी दुःख पहुँचाना अपने लिये पतनकारक है। जब यह निर्णय हो गया कि दूसरोंका हित करना हमारे लिये कल्याणकारक है और दूसरोंका अहित करना हमारे लिये पतनकारक है, तब हमें दूसरोंके हितको दाहिनी ओरकी पंक्तिमें और दूसरोंके अहितको बायीं ओरकी पंक्तिमें रखना चाहिये।

४-एक ओर सत्य-भाषण है और एक ओर असत्य-भाषण। इन दोनोंमें कौन उत्तम और कल्याणकारक है। इस विषयमें अपने आत्मासे पूछनेपर यही उत्तर मिलता है कि जो बात जैसी देखी, सुनी, समझी हो,उसको न घटाकर, न बढ़ाकर कपट छोड़कर ज्यों-का-त्यों सत्य कह देना ही उत्तम है। इसके विपरीत, काम-क्रोध, लोभ-मोह और भयके वशमें होकर मिथ्याभाषण करना पाप है। जब यह निर्णय हो गया, तब सत्यभाषणको दाहिनी ओरकी पंक्तिमें और असत्यभाषणको बायीं ओरकी पंक्तिमें रखें।

५-एक ओर ब्रह्मचर्यका पालन है और एक ओर व्यभिचार। इन दोनोंके विषयमें विचार करनेपर यही निर्णय मिलता है कि ब्रह्मचर्यका पालन करना अर्थात् किसी भी स्त्री या बालकके साथ कुत्सितभावसे श्रवण, दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, एकान्तवास, चिन्तन, सहवास, हँसी-मजाक आदि क्रियाओंको न करना तथा कामोद्दीपक वस्तुओंका सेवन न करना ही श्रेष्ठ और कल्याणकारक है। किंतु काम, क्रोध, लोभ, मोहके वशीभूत होकर इसके विपरीत आचरण करना— व्यभिचार करना महान् पतनकारक है। अतः ब्रह्मचर्यपालनको दाहिनी पंक्तिमें तथा व्यभिचारको बायीं पंक्तिमें रखें।

६-एक ओर दूसरोंके हकका हरण करना है और एक ओर दूसरोंके हकको हरण न करना है। इन दोनोंमेंसे कौन उत्तम है, इसको अपनी आत्मासे पूछनेपर यही उत्तर मिलेगा कि काम, लोभ, स्वार्थ और अज्ञानके वशमें होकर दूसरेके हकके जमीन, मकान, स्त्री, पुत्र, धन आदि किसी भी पदार्थको चोरीसे, जोरीसे, ठगीसे या अन्य किसी भी प्रकारसे अपने अधिकारमें न करना ही न्याययुक्त और उत्तम है; इसके विपरीत, किसीके भी हककी वस्तुको किसी प्रकार हड़प लेना अन्याय-पूर्ण और महान् हानिकारक है। अतः ऐसा समझ लेनेपर दूसरोंके

हकका हरण न करनेको दाहिनी पंक्तिमें और दूसरोंके हकका हरण करनेको बायीं पंक्तिमें रख लेना चाहिये।

७-एक ओर विषयभोगोंका त्याग है और दूसरी ओर विषय-भोगोंका उपभोग। इन दोनोंमेंसे कौन उत्तम और कल्याणकारक है—इसपर अपने अन्तःकरणमें विचार करना चाहिये। विवेकपूर्वक भली-भाँति विचार करनेपर यही बात मनमें आती है कि काम, क्रोध, लोभ, स्वार्थ और अज्ञानके वशीभूत होकर ऐश-आराम, स्वाद-शौकके रूपमें जो मन-इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका उपभोग है, उसमें यद्यपि आरम्भमें सुख-सा प्रतीत होता है, वह परिणाममें विषके समान और महान् हानिकारक है—अतः वह राजस सुख त्याज्य है। इसी प्रकार जो निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदिके रूपमें सुखभोग किया जाता है, वह आरम्भमें और परिणाममें मोहकारक होनेके कारण अपने पतनका हेतु और महान् हानिकारक है; अतः यह तामस सुख भी त्याज्य है। इन दोनोंके विपरीत, धर्मके लिये कष्ट सहनारूप तप, सत्पुरुषोंका सङ्ग और सेवा, कल्याणकारी पुस्तकोंका अनुशीलन, दुखियोंकी सेवा और वैराग्यपूर्वक विषयोंका त्याग करते हुए अपना जीवन बिताना आदि औषध-सेवनकी भाँति आरम्भमें कष्टप्रद होते हुए भी परिणाममें अमृततुल्य सुखप्रद है; अतः यह सात्त्विक सुख ही उत्तम और कल्याणकारक सिद्ध हुआ। उपर्युक्त निर्णयके अनुसार हमें विषयोंके त्यागरूप सात्त्विक सुखको दाहिनी ओरकी पंक्तिमें और विषयोंके उपभोगरूप राजस-तामस सुखको बायीं पंक्तिमें रखना चाहिये।

८-एक ओर सात्त्विक भोजन है और दूसरी ओर राजस-तामस भोजन है। इन दोनोंके विषयमें विचार करनेपर यही निर्णय मिलता है कि दाल-भात, फुलका-रोटी, तरकारी-साग, दूध, दही, घी, फल, मेवा इत्यादि जो सात्त्विक पदार्थ हैं, उनका सेवन करना ही उत्तम और

कल्याणमें सहायक है। इसके विपरीत, मिर्च-खटाई आदि राजसी और लहसुन, प्याज, गाँजा, सुलफा, भाँग, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट और मांस-मदिरा, मछली, अंडा आदि हिंसायुक्त घृणित और अभक्ष्य होनेके कारण तामसी हैं; अतः इनका सेवन पतनकारक और महान् हानिकारक है, अतएव त्याज्य है। अपने विवेकद्वारा किये हुए इस निर्णयके अनुसार सात्त्विक भोजनको दाहिनी पंक्तिमें और राजस-तामस भोजनको बायीं पक्तिमें रखना चाहिये।

९-एक ओर परमात्माका चिन्तन-सेवन है और एक ओर इस दृश्य संसारका चिन्तन-सेवन है। इन दोनोंमें कौन कर्तव्य है—इस विषयमें गहराईसे अपने हृदयमें विचार करना चाहिये। भलीभाँति विचार करनेपर यही निर्णय मिलता है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, ममता, आसक्ति और स्वार्थके वश होकर इस नाशवान् क्षणभङ्गुर जड-चेतन, स्थावर-जङ्गमात्मक संसारके चिन्तन, सेवन और संग्रहमें तो क्षणमात्रके लिये ही सुख-सा प्रतीत होता है; किंतु वास्तवमें इसमें सुख नहीं है, बल्कि संसारके चिन्तनमें तो हानि-ही-हानि है। इसके विपरीत, चाहे हिंदू, मुसलमान, ईसाई—कोई भी क्यों न हो, उसकी सच्चिदानन्दघन परमात्माके अल्लाह, खुदा, गॉड, ईश्वर, ॐ, हरि, नारायण, राम, कृष्ण, शिव आदिमेंसे जिस नाम-रूपमें श्रद्धा-विश्वास और रुचि हो, उसी नामका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप, स्मरण, कीर्तन करना और उसके स्वरूपका चिन्तन करना ही आदि, मध्य और अन्तमें सदा ही लाभदायक और आत्यन्तिक आनन्द प्रदान करनेवाला है, अतः यही उत्तम कर्तव्य है। उपर्युक्त निर्णयके अनुसार हमें उचित है कि परमात्मचिन्तनको दाहिनी पंक्तिमें और संसार-चिन्तनको बायीं पंक्तिमें रखें।

१०-ऊपर बतायी हुई बातोंमें और उनके अतिरिक्त भी एक ओर सद्गुण-सदाचार है और एक ओर दुर्गुण-दुराचार। इन दोनोंमें कौन

उत्तम और ग्राह्य है—इसपर विवेकपूर्वक बुद्धिसे भलीभाँति विचार करनेपर यही निर्णय होता है कि क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान, वैराग्य, शूरता, वीरता, धीरता, निर्भयता, लज्जा, निरभिमानता, त्याग, पवित्रता, चित्तकी प्रसन्नता, मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका संयम, उपरति, तितिक्षा, सुहृदता, निष्कामभाव इत्यादि सद्गुण एवं यज्ञ, दान, तप तथा माता-पितादि गुरुजन और दुःखी, अनाथ एवं बाढ़, अकाल आदि प्रकोपोंसे पीड़ित मनुष्यों तथा गौ आदि प्राणियोंकी सेवा, विनय-प्रेमपूर्वक व्यवहार, शौचाचार, स्वाध्याय, ईश्वर, देवता और महात्माओंकी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सेवा-पूजा इत्यादि सदाचार ही अपना उत्थान करनेवाले हैं; अतः ये ही उत्तम और ग्राह्य हैं। इनके विपरीत, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरता, राग-द्वेष, वैर, अहंकार, ममता, दर्प, अभिमान, अज्ञान, नास्तिकता, मान-बड़ाईकी इच्छा, चिन्ता, भय, शोक, वासना, तृष्णा आदि दुर्गुण एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, मादक वस्तुओंका सेवन, चौपड़-ताश और खेल-तमाशेकी बुरी आदत, अन्यायपूर्वक धनका उपार्जन, न करने योग्य कार्यको करना और करने योग्य कार्यको न करना, अधिक मात्रामें सोना, आलस्य, व्यर्थ चिन्तन, व्यर्थ कर्म, व्यर्थ बकवाद, कठोर भाषण, कटु व्यवहार, परनिन्दा, दूसरोंका अपमान करना, दूसरोंके दोषोंका दर्शन, श्रवण, कथन इत्यादि दुराचार अपना अधःपतन करनेवाले हैं—अतः ये सभी त्याज्य हैं। अपनी विवेकयुक्त बुद्धिके इस निर्णयके अनुसार सद्गुण-सदाचारको दाहिनी ग्राह्य पंक्तिमें और दुर्गुण-दुराचारको बायीं त्याज्य पंक्तिमें रखना चाहिये।

इसी प्रकार और भी जो भाव और आचरण सामने आयें, उनपर अपनी बुद्धिसे विवेकपूर्वक भलीभाँति विचार करके निर्णय कर लेना चाहिये। निर्णय करनेपर जो एक ग्राह्य और एक त्याज्य पंक्ति बन जाय,

उसमेंसे त्याज्य बायीं पंक्तिमें आयी हुई बातोंका सेवन न करना और ग्राह्य दाहिनी पंक्तिमें आयी हुई बातोंका सेवन करना ही अपने द्वारा अपना उद्धार करना है। इसके विपरीत, ग्राह्य दाहिनी पंक्तिमें आयी हुई बातोंका सेवन न करना और त्याज्य बायीं पंक्तिमें आयी हुई बातोंका सेवन करना ही अपने द्वारा अपना पतन करना है। एवं उपर्युक्त विवेचनके अनुसार विवेक-वैराग्यपूर्वक शम-दम आदि उत्तम भाव तथा सेवा, भक्ति, परोपकार आदि उत्तम आचरणरूप साधनोंके द्वारा जिसने इन्द्रियोंसहित अपने मनको वशमें कर लिया है, वही मनुष्य अपने-आपका मित्र है। इसके विपरीत, राग-द्वेष आदि अवगुण और झूठ, कपट, चोरी, हिंसा आदि दुराचारके वशीभूत होनेके कारण जो इन्द्रियोंसहित अपने मनको वशमें नहीं करता, वही अपने-आपका शत्रु है।

क्योंकि उपर्युक्त प्रकारसे विवेकयुक्त बुद्धिके द्वारा जिसको हमने इस रूपमें जान लिया कि यह हमारे परम लाभकी बात है, उसे धारण न करना और जिसे विवेकबुद्धिपूर्वक इस रूपमें समझ लिया कि यह बुरी बात है, अधःपतन करनेवाली है, उसे जान-बूझकर करते रहना—यह अपनी समझसे, अपने सिद्धान्तसे गिरना है और यह महामूर्खता है। इससे बढ़कर और पतन क्या होगा ?

अतएव हमलोगोंको उचित है कि हमने विवेकयुक्त बुद्धिके द्वारा भलीभाँति विचार करके जिनको अच्छा (ग्राह्य) समझ लिया है, उनको कटिबद्ध होकर काममें लायें और जिनको बुरा (हेय) समझ लिया है, उनका सर्वथा त्याग कर दें। यही कल्याणका मार्ग है।

मानवता और वर्णाश्रमधर्म

मानवताका अभिप्राय है मनुष्यकी मनुष्यता। सर्वप्रथम इसपर विचार करना चाहिये कि मनुष्यकी उत्पत्ति किससे हुई। शास्त्रोंको देखनेसे मालूम होता है कि मनुसे ही मनुष्यकी उत्पत्ति हुई और इस उत्पत्तिका मूल स्थान यह भारतवर्ष ही है। यहींसे सारी पृथ्वीपर मानव-सृष्टिका विस्तार हुआ। मानव-सृष्टिकी उत्पत्तिका मूल स्थान भारतवर्ष होनेके कारण वही मानवताका मूल उद्गमस्थान है। अतः श्रीमनुजीका आदेश है कि सारी पृथ्वीके लोग यहींसे शिक्षा लिया करें—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनु० २। २०)

'इस देश (भारतवर्ष) में उत्पन्न हुए ब्राह्मणके समीप पृथ्वीके समस्त मानव अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करें।'

इसलिये हमलोगोंको मनुष्यताके पूर्ण आदर्श बननेके लिये मनुप्रोक्त धर्मोंके अनुसार ही अपना जीवन बनाना चाहिये; क्योंकि जितने भी स्मृतियोंके रचयिता महर्षि हुए हैं, उनमें मनु प्रधान हैं। अतः मनुने जो कुछ कहा है, वही मनुष्यका धर्म है।

सृष्टिके संचालन, संरक्षण और समुत्थानके लिये श्रीमनुजीने वेदोंके आधारपर चार वर्णों और चार आश्रमोंकी व्यवस्था की थी। उस व्यवस्थाके बिगड़ जानेके कारण ही आज हमारा पतन हो रहा है। अतः

उसकी रक्षाके लिये हमें मानवधर्मरूप भारतीय संस्कृतिको अपनाना चाहिये। भाषा, वेष, खान-पान और चरित्रसे ही मनुष्यके हृदयपर भले-बुरे संस्कार जमते हैं। संस्कार ही संस्कृति है। अतः इन चारोंके समूहको ही संस्कृति कहा जाता है।

सृष्टिके आदिमें ब्रह्माजीका प्राकट्य हुआ और ब्रह्माजीसे वेद प्रकट हुए। वेदोंकी भाषा संस्कृत है। सृष्टिके आदिमें ब्रह्मादि देवताओंसे उत्पन्न होनेके कारण संस्कृत-भाषाका नाम 'देवभाषा' और संस्कृतलिपिका नाम 'देवनागरी' हुआ। संस्कृत-भाषामें अनेक विशेषताएँ हैं। संस्कृतमें साधारणतया धातुओंके १८० रूप बनते हैं। इतने रूप अंग्रेजी, फारसी आदि अन्य किसी भाषामें नहीं बनते। संस्कृतमें एकवचन, द्विवचन, बहुवचन—ये तीन वचन होते हैं, जहाँ कि अन्य भाषाओंमें एकवचन और बहुवचन ही होते हैं, द्विवचन नहीं। संस्कृतमें पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग—ये तीन लिङ्ग होते हैं, जब कि अन्य भाषाओंमें लिङ्गोंके कहीं एक और कहीं दो ही भेद माने गये हैं। सारांश, अन्य भाषाओंमें द्विवचन और नपुंसकलिङ्गका अलग भेद नहीं माना गया है। इसके सिवा भाषाका सौन्दर्य, लालित्य, व्याकरणकी पूर्णता और अलौकिकता आदि अनेक गुण इस संस्कृत-भाषामें हैं, जो अन्यत्र नहीं पाये जाते। इसी देवभाषाका रूपान्तर हिंदी-भाषा है, जो आज भारतकी प्रधान भाषा है। हमारे धर्मके जितने भी मौलिक ग्रन्थ हैं, वे संस्कृतमें ही हैं। उनमेंसे कितने ही ग्रन्थोंका हिंदीमें भी अनुवाद हो चुका है। आयुर्वेद और ज्यौतिष आदिके ग्रन्थ भी संस्कृतमें ही हैं। इसलिये संस्कृत और हिंदी-भाषा हमारे देशकी प्रधान सम्पत्ति हैं। अतः इनकी रक्षा करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

हमारे देशका वेष शास्त्रोंमें यही पाया जाता है कि एक अधोवस्त्र और एक उत्तरीयवस्त्र धारण करना। ये दोनों वस्त्र बिना सिलाये ही काममें लाये जाते रहे हैं। स्त्रीके लिये अधोवस्त्रसे साड़ी और उत्तरीयवस्त्रसे ओढ़नी समझनी चाहिये। एवं पुरुषके लिये अधोवस्त्रसे धोती और उत्तरीयवस्त्रसे चादर समझनी चाहिये। अभीतक विवाहके समय भी कन्याका पिता वर और कन्याके लिये उपर्युक्त चार वस्त्र ही प्रदान करता है। इन्हीं वस्त्रोंको पहनकर विवाह करनेकी शास्त्रोक्त पद्धति है। अतः यही आदर्श वेष है।

इसी प्रकार हमारे देशका खान-पान पहले कन्द, मूल, फल, शाक, अन्न और दूध, दही, घी ही रहा। ये ही सात्त्विक पदार्थ हैं। इन्हींकी गीतामें प्रशंसा की गयी है। भगवान्‌ने कहा है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

(१७।८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

इस प्रकारके सात्त्विक पदार्थोंके भोजनसे बुद्धि सात्त्विक होती है, अन्तःकरण शुद्ध होता है और अध्यात्मविषयकी स्मृति प्राप्त होती है, जिससे सम्पूर्ण बन्धनोंसे छुटकारा हो जाता है। छान्दोग्य-उपनिषद्‌के सातवें अध्यायके २६ वें खण्डके दूसरे मन्त्रमें कहा गया है—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।

'आहार-शुद्धि होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर निश्चल स्मृति होती है एवं स्मृतिकी प्राप्ति होनेपर सम्पूर्ण ग्रन्थियोंकी निवृत्ति हो जाती है।'

अतः हमारा खान-पान सात्त्विक होना चाहिये, राजस और तामस नहीं। तामस भोजन तो राक्षसों और असुरोंका होता है, इसलिये वह त्याज्य है। तामस पदार्थोंमें भी मांस, मछली, अंडा आदिका भोजन तो बिलकुल ही अमानुषिक कार्य है। मनुष्यका तो कर्तव्य है सब जीवोंका हित करना, न कि जीवोंको राक्षसोंकी भाँति मारकर खा डालना। विचार करना चाहिये कि वे जीव निर्बल और बुद्धिहीन हैं, हमलोग बलवान् और बुद्धिमान् हैं। क्या हमारा यह कर्तव्य है कि हम निर्बल और बुद्धिहीन प्राणियोंको खा जायँ? बल्कि उचित तो यह है और इसीमें मनुष्यता है कि हम निर्बल प्राणियोंकी सब प्रकारसे सहायता करें। इस प्रकार सब प्राणियोंका हित करनेवाले मनुष्य ही उन्नत होकर परमात्माको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।

(गीता १२। ४का उत्तरार्ध)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें लगे हुए मनुष्य मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

श्रीरामचरितमानसमें भी आया है—

पर हित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४०। १)

पर हित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(रा० च० मा० अरण्य० ३०। ५)

इस प्रकार गीता-रामायण आदि शास्त्रोंसे भी यही बात सिद्ध होती है कि मनुष्यको प्राणिमात्रका हित करना चाहिये। दूसरी बात यह है कि

मांस, मछली आदिको खानेवाले मांसाहारी पशुओंकी दाढ़ें और नख छुरेके समान तीक्ष्ण होते हैं; किंतु मनुष्य और बंदरके दाँत और नख इतने सरल हैं कि वे कन्द, मूल, फल, शाक और अन्न खानेके ही योग्य हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि हमारा भोजन कन्द, मूल, फल, शाक और अन्न आदि ही हैं, मांस आदि नहीं। तीसरी बात यह है कि पशु-पक्षियोंके रक्त, मांस, चर्बी, मज्जा, अण्डा आदि सभी दुर्गन्धयुक्त और अपवित्र होते हैं, जो मनुष्यके छूनेके योग्य भी नहीं होते; फिर वे क्या मनुष्यके खानेके योग्य हो सकते हैं ! कदापि नहीं। चौथी बात यह है कि इनको खानेसे बुद्धि और विवेक नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं तथा इन्हें प्राप्त करनेमें प्राणियोंकी हिंसा होती है; अतः ये अत्यन्त तामस हैं। इसी प्रकार मदिरा भी अत्यन्त तामस पदार्थ है। इसके पानसे नशा होकर बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, जिससे मनुष्यका पतन होता है। अतः मांस, मछली, अण्डा, मदिरा—ये सभी मनुष्यके लिये अभक्ष्य तथा अपेय हैं। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको इनका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये, यहाँतक कि इन्हें छूना भी नहीं चाहिये; इसीमें उसकी मनुष्यता है।

अब चरित्रके विषयमें विचार किया जाता है। श्रीमनुजीने मनुष्यके चरित्र-निर्माणके लिये प्रधान दस बातें बतलायी हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६। ९२)

(१) धृति—भारी कष्ट पड़नेपर भी धैर्यका त्याग न करना, (२) क्षमा—कोई अपराध कर दे तो उसका बदला लेनेकी इच्छा न रखकर अपराधको सहन कर लेना, (३) दम—मनको वशमें करके

उसे अपने नियन्त्रणमें रखना, (४) अस्तेय—दूसरेके स्वत्वपर चोरी, जोरी, ठगी आदि किसी प्रकारसे भी अपना अधिकार नहीं जमाना। (५) शौच—सदाचार, सद्गुण आदिके द्वारा मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीरको सब प्रकारसे पवित्र रखना, (६) इन्द्रिय-निग्रह—विषयोंमें विचरण करनेवाली इन्द्रियोंको अपने अधीन रखना, (७) धी—बुद्धिको तीक्ष्ण और सात्त्विक बनाना,* (८) विद्या—जिससे परमात्माका यथार्थ अनुभव हो, ऐसा सात्त्विक ज्ञान प्राप्त करना,† (९) सत्य—जो बात जैसी सुनी, समझी और देखी गयी हो, उसको निष्कपट और विनय-भावसे ज्यों-की-त्यों यथार्थ कहना, उससे न अधिक कहना और न कम; एवं (१०) अक्रोध—मनके विपरीत घटनाके प्राप्त होनेपर उसे ईश्वरका विधान मानकर संतुष्ट रहना, किसीपर क्रोध न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।

---

* सात्त्विक बुद्धिके लक्षण गीतामें भगवान्‌ने इस प्रकार बतलाये हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
(१८। ३०)

'हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है; वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

† सात्त्विक ज्ञानके लक्षण भगवान्‌ने गीतामें इस प्रकार बतलाये हैं—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
(१८। २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सारे भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तू सात्त्विक जान।'

महर्षि पतञ्जलिजीने मनुष्यके चरित्र-निर्माणके लिये जो यम-नियमोंके नामसे आदेश दिया है, वह भी इससे मिलता-जुलता-सा ही है। वे कहते हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

(योग० २ । ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं।'

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

(योग० २ । ३२)

'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच 'नियम' हैं।'

भगवान् श्रीकृष्णने मानव-चरित्र-निर्माणके लिये उत्तम गुण और आचरणोंको लक्ष्यमें रखकर दैवी सम्पदाके नामसे गीताके सोलहवें अध्यायके पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें इस प्रकार कहा है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

'भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक

दान,* इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका अभ्यास तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कभी किंचिन्मात्र भी कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय-भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें स्वार्थ और कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दा और दोषदर्शन न करना, सब भूत-प्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें लिपायमान न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शौचाचार—सदाचारके द्वारा बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब हे अर्जुन ! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणोंमें मानव-चरित्र-निर्माणके हेतुभूत जिन आदर्शोंका बहुत विस्तारके साथ वर्णन पाया जाता है, उन सबको भगवान्‌ने गीतामें साररूपसे संक्षेपमें बतलाया है।

---

* सात्त्विक दानके लक्षण भगवान्‌ने गीतामें इस प्रकार बतलाये हैं—

दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

(१७।२०)

'दान देना ही कर्तव्य है—ऐसे भावसे जो दान देश तथा काल और पात्रके प्राप्त होनेपर उपकार न करनेवालेके प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।'

इस प्रकार भाषा, वेष, खान-पान और चरित्र—इन चारोंके समूहको ही संस्कृति कहते हैं। अतः मनुष्यको उपर्युक्त भारतीय संस्कृतिके आदर्श सद्गुण-सदाचारोंको अपने जीवनमें अच्छी प्रकार उतारना चाहिये। यही मनुष्यकी मनुष्यता है। इसके बिना तो मनुष्य मनुष्य नहीं, पशुके समान ही है। नीतिमें बतलाया गया है—

येषां न विद्या न तपो न दानं
न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

(चाणक्य० १७।७)

जिनमें न विद्या है, न तप है, न दान है, न शील (सदाचार) है,न गुण है और न धर्म ही है, वे इस मनुष्यलोकमें पृथ्वीके भार बने हुए मनुष्यरूपमें पशु ही फिर रहे हैं।'

इसलिये मनुष्यको मनुष्यताके अनुरूप आचरण करना चाहिये। निद्रा, आलस्य, प्रमाद, नास्तिकता, दुर्गुण, दुराचार, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा और शरीरके आरामकी इच्छा तथा विषयासक्ति—ये सब मनुष्यताको नष्ट करनेवाले हैं। निद्रा और आलस्यके कारण मनुष्य करनेयोग्य कर्मोंका त्याग कर देता है। प्रमादके कारण न करनेयोग्य कर्मोंको करने लगता है तथा नास्तिकताके कारण मनुष्य ईश्वर, धर्म, शास्त्र और परलोकको नहीं मानता, जिससे मनमाना आचरण करने लगता है। दुर्गुण-दुराचार और आसुरी सम्पदाको धारण करके पथभ्रष्ट हो जाता है। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठामें फँसकर मनुष्य दम्भी और पाखण्डी बन जाता है तथा शरीरके आराम और भोगोंमें फँसकर न करनेयोग्य पापकर्मोंमें प्रवृत्त हो जाता है। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको उपर्युक्त इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

सृष्टिके आदिमें मनु आदि महर्षियोंने संसारके परम हितके लिये वेदोंके आधारपर चार वर्णों और चार आश्रमोंकी व्यवस्था करके जो समाजका संगठन किया है, वह हमलोगोंके शरीर, समाज, व्यापार और देशके लिये परम हितकर है। अतः हमलोगोंको अपने अधिकारके अनुसार उन धर्मोंका यथावत् पालन करना चाहिये। मनुप्रोक्त वर्णाश्रमधर्मका स्वरूप संक्षेपमें इस प्रकार समझना चाहिये।

ब्रह्मचर्याश्रम

माता-पिताको उचित है कि पाँच वर्षका हो जानेके बाद बालकको ऋषिकुल या गुरुकुलमें प्रेषित कर दें अथवा अपने घरपर ही रखकर दूसरोंसे या स्वयं विद्या पढ़ायें—कम-से-कम दस वर्ष उसे शिक्षा दें। चाणक्यनीतिमें कहा गया है—

लालयेत् पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रत्वमाचरेत्॥

(३।१८)

'पुत्रका पाँच वर्षतक लालन-पालन करे, उसके बाद दस वर्षतक उसपर शासन करे; किंतु जब वह सोलह वर्षका हो जाय, तब उसके साथ मित्रकी भाँति बर्ताव करे।'

माता-पिताको उचित है कि वे बाल्यावस्थामें ही बालकको विद्याभ्यास करायें; क्योंकि जो माता-पिता अपने बालकको विद्या नहीं पढ़ाते, वे बालकके साथ शत्रुताका व्यवहार करते हैं; इसलिये वे शत्रुतुल्य हैं—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥

(चाणक्य० २।११)

'वह माता शत्रु और पिता वैरीके समान है, जिसने अपने बालकको विद्या नहीं पढ़ायी; क्योंकि बिना पढ़ा हुआ बालक सभामें वैसे ही शोभा नहीं पाता, जैसे हंसोंके बीच बगुला।'

बालकका यह कर्तव्य है कि वह गुरुके यहाँ ब्रह्मचर्याश्रमधर्मकी शास्त्रोक्त विधिके अनुसार यथाधिकार यज्ञोपवीत-संस्कार* कराकर वेदाध्ययन करता हुआ विद्याका अभ्यास करे, शास्त्रोंका तथा अनेक प्रकारकी भाषाओं और लिपियोंका ज्ञान प्राप्त करे। भिक्षा लाकर उसे गुरुके समर्पित कर दे और गुरुका दिया हुआ भोजन स्वयं करे। यह श्रीमनुजीने कहा है—

समाहृत्य तु तद् भैक्षं यावदर्थममायया।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः॥

(मनु० २। ५१)

'जितनी आवश्यक हो, उतनी भिक्षा लाकर निष्कपट भावसे गुरुके समर्पण करे और फिर आचमन करके पवित्र हो पूर्वाभिमुख होकर भोजन करे।'

---

* यज्ञोपवीत-संस्कारका काल श्रीमनुजीने इस प्रकार बतलाया है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥

(मनु० २। ३६)

'ब्राह्मणका यज्ञोपवीत-संस्कार गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रियका गर्भसे ग्यारहवेंमें और वैश्यका गर्भसे बारहवें वर्षमें करे।'

किंतु—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥

(मनु० २। ३७)

नित्यप्रति गुरुको नमस्कार करना, उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना ब्रह्मचारीका उत्तम धर्म है। उसे तत्परताके साथ शिक्षा और विद्याके अध्ययनमें ही विशेषतया मन लगाना चाहिये। जो बालक बाल्यावस्थामें विद्या नहीं पढ़ता एवं शिक्षा ग्रहण नहीं करता तथा किसी कुत्सित क्रियाद्वारा वीर्य नष्ट कर देता है, उसे सदाके लिये पश्चात्ताप करना पड़ता है। शिक्षा ग्रहण करना, विद्याका अभ्यास करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना—ये तीनों उसके लिये इस लोक और परलोकमें बहुत ही लाभदायक हैं। ब्रह्मचर्यके बिना आयु, बल, बुद्धि, तेज, कीर्ति और यशका विनाश होता है और मरनेके बाद दुर्गति होती है। इसलिये बालकोंको ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक शिक्षा और विद्या प्राप्त करनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। विद्याका अर्थ है नाना प्रकारकी भाषाओं और लिपियोंका ज्ञान तथा शिक्षाका अर्थ है उत्तम गुण और उत्तम आचरणोंको सीखकर उनको अपने जीवनमें लाना एवं ब्रह्मचर्यव्रतके पालनका अर्थ है सब प्रकारके मैथुनोंका* त्याग करना और ब्रह्मके स्वरूपमें विचरण करना अर्थात् परमात्माके स्वरूपका मनन करना।

ब्रह्मचारीको मन-इन्द्रियोंके संयमपूर्वक यम-नियमोंका पालन करना चाहिये। इसके सिवा उसे श्रीमनुजीके बतलाये हुए विशेष नियमोंका भी पालन करना चाहिये। श्रीमनुजीने कहा है—

किंतु ब्रह्म-तेजकी इच्छा रखनेवाले ब्राह्मणका पाँचवें वर्षमें, बल चाहनेवाले क्षत्रियका छठेमें और धन चाहनेवाले वैश्यका आठवें वर्षमें यज्ञोपवीत करना चाहिये।'

* शास्त्रोंमें आठ प्रकारके मैथुन बतलाये गये हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्॥
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च।

(अग्निपुराण ३७२। ९-१०)

'स्त्रीका स्मरण, स्त्रीसम्बन्धी बातचीत, स्त्रियोंके साथ खेलना, स्त्रियोंको देखना, स्त्रीसे गुप्त भाषण करना, स्त्रीसे मिलनेका निश्चय करना और संकल्प करना तथा स्त्रीसङ्ग करना।'

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥

(२। १७६)

'ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह नित्य स्नान करके शुद्ध हो देवता, ऋषि और दिव्य पितरोंका तर्पण तथा देवताओंका पूजन और अग्निहोत्र अवश्य करे।'

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥

(मनु० २। १७७—१७९)

'शहद, मांस, सुगन्धित वस्तु, फूलोंके हार, रस, स्त्री और सिरकेकी भाँति बनी हुई समस्त मादक वस्तुओंका सेवन करना तथा प्राणियोंकी हिंसा करना एवं उबटन लगाना, आँखोंको आँजना, जूते और छातेका उपयोग करना तथा काम, क्रोध और लोभका आचरण करना एवं नाचना, गाना, बजाना तथा जूआ, गाली-गलौज और निन्दा आदि करना एवं झूठ बोलना और स्त्रियोंको देखना, आलिङ्गन करना तथा दूसरेका तिरस्कार करना—इन सबका ब्रह्मचारीको त्याग कर देना चाहिये।'

यदि बालक घरपर रहकर विद्याका अभ्यास करे तो उसे माता-पिता और आचार्यको क्रमशः दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि और आहवनीयाग्निका रूप समझकर उनकी तन-मनसे सेवा करनी चाहिये। श्रीमनुजीने कहा है—

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥

(मनु० २ । २३१)

'पिता गार्हपत्याग्नि, माता दक्षिणाग्नि और गुरु आहवनीयाग्नि है—ऐसा कहा गया है । यह तीनों अग्नियोंका समूह अत्यन्त श्रेष्ठ है ।'

इनकी सेवा करनेसे मनुष्य भूः, भुवः, स्वः—तीनों लोकोंको जीत लेता है—

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥

(मनु० २ । २३३)

'माताकी भक्तिसे मनुष्य इस लोकको, पिताकी भक्तिसे मध्यलोकको और गुरुकी भक्तिसे ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है ।'

इनकी सेवाको बालकके लिये परम तप कहा गया है; क्योंकि यह परम धर्म है, शेष सब उपधर्म हैं—

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥

(मनु० २ । २२९)

'इन तीनोंकी सेवाको बड़ा भारी तप कहा गया है, अतः इन तीनोंकी आज्ञाके बिना मनुष्य अन्य किसी धर्मका आचरण न करे ।'

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥

(मनु० २ । २३७)

'क्योंकि इन तीनोंकी सेवासे पुरुषका सारा कर्तव्य पूर्ण हो जाता है । यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं ।'

इन तीनोंमें गुरुकी सेवासे भी माता-पिताकी सेवाका महत्त्व शास्त्रोंमें अधिक बताया गया है। क्योंकि—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

(मनु० २। २२७)

'मनुष्यकी उत्पत्तिके समय जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी उनकी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता।'

इसलिये बालकोंको नित्य माता-पिताके चरणोंमें नमस्कार, उनकी आज्ञाका पालन और उनकी सेवा अवश्य करनी चाहिये।

गृहस्थाश्रम

समावर्तन-संस्कारके बाद जब बालक विद्याध्ययन करके आये तो मार्गमें मिल जानेपर राजाको भी उचित है कि वह उसके लिये आदरपूर्वक मार्ग दे दे और घरपर आनेपर पिताको उचित है कि स्नातककी सत्कारपूर्वक मधुपर्क आदिसे पूजा करे।

स्नातकको उचित है कि माता-पिता आदि गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार उत्तम गुण, लक्षण और आचरणसे युक्त कन्याके साथ विवाह करे* तथा माता-पिता आदि गुरुजनोंकी सेवा करते हुए शौचाचार-सदाचारसे रहकर अपना जीवन बिताये।

---

* श्रीमनुजीने कहा है—

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥

(मनु० ३। ४)

'जब द्विज विधिपूर्वक व्रत-स्नान और समावर्तन कर चुके, तब गुरुजनोंके आज्ञानुसार अपने वर्णकी उत्तम लक्षणोंवाली कन्यासे विवाह करे।'

गीता कहती है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(१७।१४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

इस 'शारीरिक तप'के अनुसार सदाचारका पालन करना चाहिये। माता, पिता आदि गुरुजनोंको नित्य नमस्कार करने और उनकी सेवा करनेका बड़ा भारी महत्त्व है।

श्रीमनुजी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु० २।१२१)

'जिसका प्रणाम करनेका स्वभाव है और जो नित्य वृद्धोंकी सेवा करता है, उसके आयु, विद्या, यश और बल ये चारों बढ़ते हैं।'

गृहस्थ पुरुषको किस प्रकार जीवन बिताना चाहिये, इस विषयमें श्रीमनुजीने यों कहा है—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च॥
उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत् स्वकाले चापरां चिरम्॥

(मनु० ४।९२-९३)

ब्राह्ममुहूर्तमें (सूर्योदयसे चार घड़ी पूर्व) जागना चाहिये और धर्म तथा अर्थका एवं उनके उपार्जनके हेतुभूत शरीरके क्लेशोंका तथा वेदके

तत्त्वार्थरूप परब्रह्म परमात्माका बारम्बार चिन्तन करना चाहिये। फिर शय्यासे उठकर शौचादि आवश्यक कार्य करके स्नानादिसे शुद्ध और सावधान होकर अपने नियतकालमें (सूर्योदयसे पूर्व) प्रातः-संध्या और (सूर्यास्तसे पूर्व) सायं-संध्या करके चिरकालतक गायत्रीका जप करता रहे।'

इस प्रकार गृहस्थको नित्यप्रति अपने अधिकारके अनुसार संध्योपासन, गायत्री-जप,* अग्न्याधान, गीता और वेदादि शास्त्रोंका स्वाध्याय और अतिथियोंकी सेवा† आदि गृहस्थाश्रमके कर्तव्योंका

---

* श्रीमनुजी कहते हैं—

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥
(मनु० २। ७९)

'द्विज इन तीनोंका यानी प्रणव, व्याहृति और गायत्रीका बाहर (पवित्र और एकान्त स्थानमें) हजार बार जप करके एक मासमें बड़े भारी पापसे भी वैसे ही छूट जाता है, जैसे साँप केंचुलीसे।'

जप मानसिक किया जाय तो वह सर्वोत्तम है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः सहस्रो मानसः स्मृतः॥
(मनु० २। ८५)

विधियज्ञ यानी श्रौत-स्मार्त यज्ञसे जपयज्ञ दस गुना बढ़कर है और दूसरे मनुष्यको सुनायी न दे—इस तरह उच्चारण करके किया जानेवाला उपांशु जप (विधियज्ञसे) सौगुना तथा मानस जप (विधियज्ञसे) हजारगुना बढ़कर माना गया है अर्थात् एकसे एक दसगुना श्रेष्ठ है।'

† तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥
(मनु० ३। १०१)

'आसन, बैठनेकी जगह, जल और चौथी मीठी वाणी—इनकी सज्जनोंके घरमें कभी कमी नहीं होती।'

पालन भलीभाँति तत्परतापूर्वक अवश्यमेव करना चाहिये। गृहस्थाश्रममें रहते हुए नित्य पाँच प्रकारके पाप होते हैं, उनकी निवृत्तिके लिये पञ्च महायज्ञोंका अनुष्ठान करना आवश्यक है। श्रीमनुजीने कहा है—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥

(मनु० ३। ६८)

'गृहस्थके यहाँ चूल्हा, चक्की, बुहारी, ओखली और जलका घड़ा—ये पाँच हिंसाके स्थान हैं; इनको काममें लानेवाला गृहस्थ पापसे बँधता है।'

अतः क्रमशः उन सबसे निस्तार पानेके लिये महर्षियोंने गृहस्थोंके लिये नित्य पाँच महायज्ञ करनेका विधान किया है। वे पञ्चमहायज्ञ इस प्रकार हैं—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

(मनु० ३। ७०)

'वेद पढ़ना-पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है, श्राद्ध-तर्पण करना पितृयज्ञ है, हवन करना देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव करना भूतयज्ञ है और अतिथियोंका पूजन-सत्कार करना मनुष्ययज्ञ है।'

जो द्विज इन पाँच महायज्ञोंको यथाशक्ति नहीं छोड़ता, वह घरमें रहता हुआ भी नित्य होनेवाले हिंसा-दोषोंसे लिप्त नहीं होता तथा जो देवता, अतिथि, सेवक, पितर और आत्मा—इन पाँचोंको अन्न नहीं देता, वह श्वास लेता हुआ भी मरे हुए-के समान ही है।

यदि श्रौत या स्मार्त विधिके अनुसार नित्य अग्निहोत्र न हो सके तो बलिवैश्वदेव तो अवश्य ही करना चाहिये। बलिवैश्वदेव करनेसे

मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३। १३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीर-पोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।'

गृहस्थको सत्य*और न्यायपूर्वक धनोपार्जन करके आत्म-कल्याणके लिये देवताओं, पितरों और यावन्मात्र प्राणियोंकी निष्कामभावसे सेवा करनी चाहिये। सबको अन्न-जल देकर अन्न-जल ग्रहण करना मनुष्यके लिये कल्याणकारी है, इसलिये तर्पण और बलिवैश्वदेवका विधान किया गया है। तर्पणमें क्रमशः देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों और पितरोंको एवं यावन्मात्र प्राणियोंको जो जल दिया जाता है, उसका पहले सूर्यके द्वारा शोषण होता है, फिर वह वर्षाके रूपमें आकर सब प्राणियोंको प्राप्त हो जाता है। बलिवैश्वदेवका तात्पर्य है सारे विश्वको बलि (भोजन) देना। जो अग्निमें आहुति दी जाती है, वह सूर्यको प्राप्त होकर और फिर सूर्यके द्वारा वर्षाके रूपमें आकर समस्त विश्वके प्राणियोंको प्राप्त हो जाती है। श्रीमनुजीने कहा है—

---

* श्रीमनुजीने कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

(मनु० ४। १३८)

'सदा सत्य बोले, प्रिय बोले; किंतु ऐसी बात न कहे जो सत्य तो हो पर अप्रिय हो तथा जो प्रिय तो हो पर असत्य हो, उसे भी न कहे। यह सनातन धर्म है।'

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

(मनु० ३ । ७६)

'वेदोक्त विधिसे अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यको प्राप्त होती है, सूर्यसे मेघद्वारा वर्षा होती है और वर्षा होनेसे अन्न पैदा होता है तथा अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है (एवं अन्नसे ही सब प्राणियोंकी तृप्ति और वृद्धि होती है) ।'

अतः बलिवैश्वदेव करना सारे विश्वको जीवनदान देना है; क्योंकि अन्नसे ही सब प्राणी जीते हैं—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

(गीता ३ । १४)

'सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं। अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होता है ।'

गृहस्थ इस प्रकार सदा अपने कर्तव्यकर्मोंके पालनमें लगा रहे और काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, दम्भ और नास्तिकता आदि दुर्गुणोंका परित्याग करके सदा मन-इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए सदाचारमें स्थित रहे। श्रीमनुजीने बतलाया है—

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥

(मनु० ४ । १६३)

'नास्तिकता, वेद-निन्दा, देव-निन्दा, द्वेष, दम्भ, अभिमान, क्रोध और कटुताका त्याग करे ।'

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः ।
न स्याद् वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥

(मनु० ४ । १७७)

'हाथ और पैरोंकी चपलता न करे, नेत्रोंकी चपलता न करे, सदा सरल रहे, वाणीकी चपलता न करे और दूसरोंकी बुराई करनेमें कभी मन न लगाये ।'

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥

(मनु० ५ । १६९)

'विवाहित गृहस्थ पुरुष पूर्वोक्त विधिसे सदा पञ्चयज्ञोंको करता रहे, उनका कभी त्याग न करे और आयुके दूसरे भागपर्यन्त (पचास वर्षतक) गृहस्थाश्रममें वास करे ।'

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ॥

(मनु० ६ । ८९)

'इन सभी आश्रमोंमें वेद और स्मृतिके विधानके अनुसार चलनेवाला गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ कहा जाता है; क्योंकि वही इन तीनों आश्रमोंका भरण-पोषण करता है ।'

वानप्रस्थाश्रम

जब गृहस्थ पुरुषकी पचास वर्षकी आयु पूरी हो जाय और वह यह देखे कि अब शरीरका चमड़ा ढीला पड़ गया है, केश पक गये हैं तथा पुत्रके भी पुत्र हो गया है, तब वह सम्पूर्ण ग्राम्य आहारोंका और समस्त सामग्रियोंका परित्याग करके तथा अपनी पत्नीका एवं गृहस्थीका सारा भार अपने पुत्रोंपर देकर वानप्रस्थ-आश्रममें जा सकता है । यदि

स्त्रीकी साथ जानेकी इच्छा हो तो वह भी जा सकती है।* किंतु वहाँ स्त्री-पुरुष दोनों ब्रह्मचर्यका पालन करें। तथा वानप्रस्थीको उचित है कि वह स्वतः मरे हुए मृग आदिका पवित्र चर्म या वस्त्र धारण करे एवं प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल—तीनों समय स्नान करे तथा जटा, दाढ़ी आदि बालोंको और नखोंको सदा धारण किये रहे एवं—

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद् बलिं भिक्षां च शक्तितः।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान्॥

(मनु० ६।७)

जो उसके खाने योग्य पदार्थ हों, उनमेंसे ही बलिवैश्व करे और अपनी शक्तिके अनुसार भिक्षा दे तथा आश्रममें आये हुए अभ्यागतोंका जल, मूल, फलकी भिक्षासे सत्कार करे।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥

(मनु० ६।८)

'नित्य वेदादि शास्त्रोंके स्वाध्यायमें लगा रहे, इन्द्रियोंका दमन करे, सबमें मैत्रीभाव रखे, मनको वशमें रखे, सदा दान दे, पर प्रतिग्रह न ले और सब प्राणियोंपर दया रखे।'

---

* मनुस्मृतिमें आया है—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद् विजितेन्द्रियः॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥
संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा॥

(६।१—३)

वानप्रस्थी द्विज मन-इन्द्रियोंको वशमें करके यम-नियमोंका पालन करते हुए पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान करता रहे और पूर्णिमा, अमावास्या तथा चान्द्रायण आदि व्रतोंका पालन करे और बिना बोये हुए अर्थात् अपने-आप पृथ्वी या जलमें उत्पन्न कन्द-मूल, फल-फूल, शाकसे एवं उनके रसोंसे अपना जीवन-निर्वाह करे। वह मधु-मांस आदिका कभी सेवन न करे। हलसे जोती हुई भूमिसे उत्पन्न धान आदिको काममें न लाये। श्रीमनुजीने कहा है—

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात् स्नेहांश्च फलसम्भवान्॥

(मनु० ६। १३)

'पृथ्वी और जलमें उत्पन्न शाक और पवित्र वृक्षोंसे उत्पन्न फूल, मूल, फलोंका तथा फलोंके रसका भोजन करे।'

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च॥

(मनु० ६। १६)

'भूखा होनेपर भी उसको हलसे जोती हुई भूमिमें उत्पन्न तथा किसीके द्वारा छोड़े हुए अन्नको और गाँवोंमें उत्पन्न हुए मूल-फलोंको भी नहीं खाना चाहिये।'

अग्निपक्वाशनो वा स्यात् कालपक्वभुगेव वा।
अश्मकुट्टो भवेद् वापि दन्तोलूखलिकोऽपि वा॥

(मनु० ६। १७)

'अग्निसे पके हुए अन्नका भोजन करे अथवा समयपर स्वतः पके हुए फल आदि खाय अथवा अन्न एवं फलोंको पत्थरसे कूटकर या दाँतोंसे चबाकर खाय।'

सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्मासंचयिकोऽपि वा।
षण्मासनिचयो वा स्यात् समानिचय एव वा॥

(मनु० ६। १८)

'एक ही दिनके लिये अथवा एक मासके लिये अथवा छः महीनोंके लिये या एक वर्षके निर्वाहके लिये अन्नका संचय करे।'

भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद् वा प्रपदैर्दिनम्।
स्थानासनाभ्यां विहरेत् सवनेषूपयन्नपः॥

(मनु० ६। २२)

'भूमिपर लेटे या दिनभर दोनों चरणोंके बलपर खड़ा रहे अथवा कभी आसनपर और कभी आसनसे उठकर अपना समय बिताये तथा तीनों काल स्नान करे।'

वानप्रस्थीको चाहिये कि वह अपने तपको क्रमशः बढ़ाता हुआ ग्रीष्म-कालमें पञ्चाग्नि तपे अर्थात् दोपहरमें चारों ओर अग्नि जलाकर मस्तकपर सूर्यके धूपका सेवन करे। वर्षा ऋतुमें पहाड़की चोटीपर खुले मैदानमें बैठकर वर्षाको सहन करे और शीतकालमें गीले वस्त्र धारण करे* अथवा नदी, तालाब आदि जलाशयमें गलेसे नीचेतक जलमें रहे।

एवं वानप्रस्थीको उचित है कि वह—

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन् देवांश्च तर्पयेत्।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद् देहमात्मनः॥

(मनु० ६। २४)

'तीनों समय स्नान करके पितरों और देवताओंका तर्पण करे एवं अत्यन्त कठोर तपस्या करता हुआ अपने शरीरको सुखाये।'

---

* ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद् वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः॥

(मनु० ६। २३)

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥

(मनु० ६। २६)

'सुख देनेवाले विषयोंमें लिप्त होनेका यत्न न करे, ब्रह्मचर्यका पालन करे, भूमिपर सोये, निवासस्थानमें ममता न करे और वृक्षकी जड़में निवास करे।'

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु॥

(मनु० ६। २७)

'(फल-मूल आदि न मिले तो) वनवासी विप्रको चाहिये कि तपस्वी ब्राह्मणोंसे अथवा अन्य वनवासी गृहस्थ द्विजोंसे अपनी प्राण-यात्रा-निर्वाहके योग्य भिक्षा माँग ले।'

ग्रामादाहृत्य वाश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन्।
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा॥

(मनु० ६। २८)

'यदि वनमें रहकर भिक्षा न मिले तो वानप्रस्थीको चाहिये कि वह गाँवसे पत्तलके टुकड़े या ठीकरेमें अथवा हाथमें ही भीख लाकर आठ ग्रास भोजन करे।'

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥

(मनु० ६। २९)

'वानप्रस्थी वनमें रहकर इन पूर्वोक्त तथा वानप्रस्थाश्रमके अन्य सब नियमोंका पालन करे और आत्मज्ञानकी सिद्धिके लिये उपनिषद्की विभिन्न श्रुतियोंका अभ्यास करे।'

तदनन्तर वानप्रस्थी द्विज जबतक शरीरपात न हो जाय, तबतक जल और वायुका भक्षण करके योगसाधन करे।

संन्यासाश्रम

इस प्रकार आयुके तीसरे भागको वनमें व्यतीत करके आयुके चतुर्थ भागमें विषयोंको त्यागकर संन्यास-आश्रम ग्रहण कर ले*। अभिप्राय यह कि पचहत्तर वर्षका हो जानेपर अग्निहोत्रादि सम्पूर्ण कर्मोंका, धर्मपत्नीका और शिखा-सूत्रका त्याग करके तथा प्राणिमात्रको अभयदान देकर संन्यास ग्रहण करे। श्रीमनुजी कहते हैं—

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥
यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्।
तस्य देहाद् विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन॥

(मनु० ६। ३९-४०)

'जो ब्राह्मण सब प्राणियोंको अभयदान देकर और घरसे निकलकर संन्यास ग्रहण कर लेता है, वह ब्रह्मवादियोंके तेजोमय लोकोंको पाता है। जिस द्विजसे किसी प्राणीको थोड़ा-सा भी भय नहीं होता, उसे शरीर-त्यागके अनन्तर कहीं भी भय प्राप्त नहीं होता।'

'संन्यासीका कर्तव्य है कि वह अकेला ही विचरण करे और चातुर्मास्यके अतिरिक्त तीन दिनसे अधिक कहीं एक जगह न ठहरे। दण्ड, कमण्डलु†, कन्था, कौपीन आदिके अतिरिक्त अन्य किसी

---

* वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥ (मनु० ६। ३३)

† अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च।
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे॥ (मनु० ६। ५३)

'संन्यासीका भिक्षापात्र धातुका न हो। पात्रमें छेद भी न हो। एवं जैसे यज्ञमें चमस शुद्ध होते हैं, वैसे ही इन पात्रोंकी जलसे शुद्धि मानी गयी है।'

वस्तुका संग्रह न करे। परिग्रहके त्यागमें ही उसका परम गौरव है। वह कञ्चन और कामिनीका कभी स्पर्श न करे; क्योंकि इनका सर्वथा त्याग ही उसका परम कर्तव्य है। वह शहरमें केवल भिक्षाके लिये ही जाय। श्रीमनुजीने कहा है—

अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्।
उपेक्षकोऽसंकसुको मुनिभावसमाहितः॥

(मनु० ६। ४३)

'संन्यासी अग्निरहित, गृहहीन, सबसे निःस्पृह, स्थिरबुद्धि, मौनी और ब्रह्मभावमें समाधिस्थ होकर समय बिताये तथा केवल भिक्षाके लिये ही गाँवमें जाय।'

एवं भिक्षाके लिये 'नारायण हरि' की आवाज उच्चारण कर देनेपर भीतरसे कोई गृहस्थ भिक्षा लेकर न आये या ठहरनेके लिये न कहे तो वहाँ न ठहरे और दूसरे घरपर चला जाय तथा जहाँ दूसरा भिक्षु भिक्षाके लिये खड़ा हो, वहाँ भी न ठहरे।

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः।
आकीर्णं भिक्षुकैर्वान्यैरागारमुपसंव्रजेत्॥

(मनु० ६। ५१)

'जिस घरमें तपस्वी, ब्राह्मण, पक्षी, कुत्ते और अन्य भिक्षुक विद्यमान हों, वहाँ भिक्षाके लिये न जाय।'

संन्यासीको आठ पहरमें एक बार ही दिनमें भोजन करना चाहिये—

एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति॥

(मनु० ६। ५५)

'संन्यासी दिनमें एक बार भीख माँगे, विस्तारमें न लग जाय; क्योंकि भिक्षामें आसक्त हो जानेसे संन्यासी अन्यान्य विषयोंमें भी आसक्त हो जाता है।'

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्॥

(मनु० ६। ५६)

'जब गृहस्थोंके घरमें रसोईका धुआँ बंद हो जाय, मूसलका काम पूरा हो जाय, अग्नि बुझ जाय और गृहस्थके भोजनके बाद जूठे सकोरे फेंक दिये जायँ, उस समय संन्यासी नित्य भिक्षाके लिये जाय।' क्योंकि अग्नि प्रज्वलित रहे तो गृहस्थ मनुष्य उस संन्यासीके उद्देश्यसे और अधिक भोजन बना सकता है। एवं संन्यासीको पाँच या सातसे अधिक गृहस्थोंके घर नहीं जाना चाहिये और उनसे जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतोष करना चाहिये—

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः॥

(मनु० ६। ५७)

'भिक्षा न मिलनेपर दुःखी न हो और मिल जानेपर हर्षित न हो। जितनेमें प्राणोंका निर्वाह हो सके, उतना ही अन्न माँगे तथा विषयोंके सङ्गसे रहित रहे।'

जहाँ अतिशय आदर-सत्कार-पूजा होते हों अथवा जहाँ अनादर होता हो, वहाँ संन्यासी भिक्षाके लिये न जाय; क्योंकि अत्यन्त सत्कारसे बन्धन हो जाता है।* संन्यासी एकान्तमें रहकर जप, ध्यान,

---

* अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते॥ (मनु० ६। ५८)

स्वाध्याय आदि अपने नित्यकर्मका पालन करे। बिना पूछे न बोले और अनुचित पूछनेपर भी न बोले, मूकके समान आचरण करे। दीपक और अग्निको प्रज्वलित न करे। कभी किसी भी प्राणीकी किसी प्रकार किंचित् मात्र भी कहीं हिंसा न करे। यम-नियमोंका कभी त्याग न करे। अपना जीवन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिमें ही लगाये; क्योंकि इनके करनेसे वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

संन्यासीके लिये मनुजीका आदेश है—

कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा॥
दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह॥

(मनु० ६। ४४—४९)

'मिट्टीका सकोरा आदि भिक्षाके पात्र, रहनेके लिये वृक्षकी जड़, जीर्ण (कौपीन-कन्था आदि) वस्त्र, अकेला रहना और सबमें समान दृष्टि रखना—ये सर्वसङ्ग-परित्यागी संन्यासीके लक्षण हैं। संन्यासी न

तो मरनेकी इच्छा करे और न जीनेकी ही अभिलाषा करे; किंतु जैसे सेवक वेतन पानेके लिये नियत समयकी प्रतीक्षा करता है, वैसे ही संन्यासी मरणकालकी प्रतीक्षा करे। मार्गको देखकर पैर रखे, वस्त्रसे छानकर जल पीये, सत्यसे पवित्र वचन बोले और पवित्र मनसे सब कार्य करे। दूसरेके कटुवचन सह ले, परंतु किसीका अपमान न करे और इस क्षणभङ्गुर देहका आश्रय लेकर किसीके साथ वैर न करे। दूसरेके क्रोध करनेपर उसपर क्रोध न करे। कोई अपनी निन्दा करे, तो भी उससे मीठे वचन बोले और कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, मन और बुद्धि—इन सात द्वारोंसे गृहीत हुए विषयोंकी चर्चा न करे; क्योंकि यह यतिके लिये असत्यभाषणके तुल्य है। वह सदा अध्यात्मचिन्तनके परायण रहे। पद्मासन, स्वस्तिकासन या सिद्धासनसे बैठे; सब विषयोंसे उदासीन रहे, मांसाहार कभी न करे और मोक्षसुखका अभिलाषी होकर केवल आत्म-सहायसे ही यानी अकेला ही इस संसारमें विचरण करे।'

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥

(मनु० ६। ६०)

'इन्द्रियोंको वशमें करनेसे, राग-द्वेषके नाशसे और सम्पूर्ण प्राणियोंकी अहिंसासे संन्यासी अमृतत्व—मोक्ष पानेमें समर्थ हो जाता है।'

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥

(मनु० ६। ८०)

'जब मनुष्य मनके भावसे सम्पूर्ण विषयोंमें निःस्पृह हो जाता है, तब उसे इस संसारमें और मरनेपर परलोकमें भी नित्य सुख प्राप्त होता है।'

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥

(मनु० ६ । ८१)

'इस प्रकारसे संन्यासी शनैः-शनैः समस्त सङ्गोंका त्याग करके मान-अपमान, राग-द्वेष, सर्दी-गरमी, सुख-दुःख आदि सभी द्वन्द्वोंसे मुक्त हो जाता है और परब्रह्म परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है ।'

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

(मनु० ६ । ८५)

'इस क्रमयोगसे जो द्विज संन्यास ग्रहण करता है, वह यहाँ सब पापोंसे रहित होकर परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है ।'

इस प्रकार ऊपर चारों आश्रमोंके धर्मोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया । मनुजी कहते हैं—

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः ।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥

(मनु० ६ । ८८)

'शास्त्रविधिसे क्रमपूर्वक सेवन करनेपर ये चारों आश्रम यथोचित रीतिसे पालन करनेवाले ब्राह्मणको परम गतितक पहुँचा देते हैं ।'

अब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंके धर्मोंको संक्षेपसे बतलाया जाता है ।

श्रीमनुजीने कहा है—

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक् कर्माण्यकल्पयत् ॥

(मनु० १ । ८७)

'उन महातेजस्वी परमात्माने इस सब सृष्टिकी रक्षाके लिये अपने मुख, बाहु, जङ्घा और चरणोंसे उत्पन्न चारों वर्णोंके लिये अलग-अलग कर्मोंका निर्माण किया।'

इनकी उत्पत्तिका वर्णन श्रुतिमें इस प्रकार किया गया है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(यजुर्वेद ३१।११)

'उन परमात्माके मुखसे ब्राह्मण, बाहुसे क्षत्रिय, जङ्घासे वैश्य और चरणोंसे शूद्र उत्पन्न हुआ।'

ब्राह्मणके धर्म

ब्राह्मणके लिये शिल और उञ्छवृत्ति सबसे श्रेष्ठ है। ऐसा ब्राह्मण ऋषिके तुल्य है। जब किसान अनाज काटकर खलिहानसे उसे घरपर ले आता है, उसके बाद उस खेतमें वर्षासे स्वाभाविक ही जो भी धान्य आदि उत्पन्न होता है, उसे लेकर जीवन-निर्वाह करना अथवा खेत या खलिहानमें गिरे हुए धान्य आदिके दानोंको बीनकर उनसे निर्वाह करना 'शिल' वृत्ति है। एवं नगरमें अनाज आदिके क्रय-विक्रयके समय जो अनाजके दाने नीचे भूमिपर गिरे रहते हैं, उनको बीनकर उनसे निर्वाह करना 'उञ्छ' वृत्ति है; इसे 'कपोत-वृत्ति' भी कहते हैं। इन दोनों—शिल और उञ्छको 'ऋत' कहा गया है।

इसके सिवा ब्राह्मणके लिये जीविकाकी साधारण वृत्ति इस प्रकार बतलायी गयी है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥

(मनु० १।८८)

'पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना—ये छः कर्म ब्राह्मणके लिये रचे गये हैं।'

इनमें यज्ञ करना, दान देना और विद्या पढ़ना—ये तीन तो धर्म-पालनके लिये हैं और यज्ञ कराना, दान लेना और विद्या पढ़ाना—ये तीन आजीविकाके लिये।*

उपर्युक्त छहों कर्मोंका निष्कामभावसे पालन करनेपर ब्राह्मणका कल्याण हो जाता है। इनमें जो दानवृत्ति है, वह बिना माँगे अपने-आप यदि दान प्राप्त हो जाय तो 'अमृत' के समान है, और दान माँगकर उससे निर्वाह करना 'मृत' है, अतः निन्दनीय है।

यदि ब्राह्मणका ब्राह्मणके कर्मोंसे निर्वाह न हो तो आपत्तिकालमें ब्राह्मण क्षत्रिय अथवा वैश्यकी वृत्तिसे अपना निर्वाह कर सकता है। श्रीमनुजीने कहा है—

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः॥
उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद् भवेत्।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद् वैश्यस्य जीविकाम्॥

(मनु० १०। ८१-८२)

---

* श्रीमनुजीने कहा है—

षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः॥

(मनु० १०। ७६)

'षट्कर्मोंमें पढ़ाना, यज्ञ कराना और विशुद्ध द्विजातियोंसे दान ग्रहण करना—ये तीनों ब्राह्मणकी जीविकाके कर्म हैं।'

यदि ब्राह्मण अपनी जीविकासे जीवन-निर्वाह करनेमें असमर्थ हो तो क्षत्रियकी वृत्तिसे जीविका करे; क्योंकि यह उसके निकटका वर्ण है एवं यदि ब्राह्मणवृत्ति और क्षत्रियवृत्ति—दोनोंसे भी ब्राह्मणको जीविका चलानेमें कठिनता हो तो वह खेती, गोरक्षा, वाणिज्य आदि वैश्यकी जीविकासे निर्वाह करे।'

किंतु ब्राह्मणको शूद्रकी वृत्तिका अवलम्बन आपत्तिकालमें भी नहीं करना चाहिये। श्रीमनुजीने ब्राह्मणके लिये ऋत आदिकी व्याख्या करते हुए कहा है—

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥

(४।४—६)

'ब्राह्मण ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत या सत्यानृतसे अपना जीवन बिताये; परंतु श्ववृत्ति अर्थात् सेवावृत्ति न करे। उञ्छ और शिलको 'ऋत' जानना चाहिये। बिना माँगे मिला हुआ 'अमृत' है। माँगी हुई भिक्षा 'मृत' कहलाती है तथा खेतीको 'प्रमृत' कहते हैं। वाणिज्यको 'सत्यानृत' कहते हैं, उससे भी जीविका चलायी जा सकती है; किंतु सेवाको श्ववृत्ति कहा गया है, इसलिये उसका त्याग कर देना चाहिये।'

क्षत्रियके धर्म

श्रीमनुजीने संक्षेपमें क्षत्रियके कर्तव्य-कर्म इस प्रकार बतलाये हैं—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥

(१।८९)

'प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और विषयोंमें अनासक्ति—ये संक्षेपमें क्षत्रियके कर्म बताये गये हैं।'

भगवान्‌ने गीतामें क्षत्रियके कर्मोंका वर्णन यों किया है—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

(१८।४३)

'शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें न भागना, दान देना और स्वामिभाव—ये सब-के-सब ही क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं।'

यदि क्षत्रियका क्षत्रियके कर्मसे निर्वाह न हो तो आपत्तिकालमें वह वैश्यकी वृत्तिसे अपना जीवन-निर्वाह करे।

श्रीमनुस्मृतिमें आया है—

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित्॥

(१०।९५)

'आपत्तिग्रस्त क्षत्रिय सभी पदार्थोंके क्रय-विक्रय आदि पूर्वोक्त वैश्यवृत्तिसे जीविका चला सकता है; किंतु आपत्तिकालमें भी ब्राह्मणकी जीविकाकी अभिलाषा कभी न करे।'

वैश्यके धर्म

श्रीमनुजी कहते हैं—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

(१।९०)

'पशुओंकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार तथा ब्याज और खेती—ये सब कर्म वैश्यके लिये बताये गये हैं।'

गीतामें वैश्यका कर्म बतलाते हुए भगवान्‌ने कहा है—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

(१८।४४का पूर्वार्द्ध)

'खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं।'

अतः इनमें खेती करना, पवित्र पदार्थोंका क्रय-विक्रयरूप व्यापार करना, गौ, भैंस, बकरी, भेड़ आदि पशुओंका पालन करना एवं व्यापारमें या बिना व्यापार ब्याज लेना—ये वैश्यकी जीविकाके कर्म हैं। इनमेंसे केवल ब्याजपर निर्भर रहना निन्दनीय है। यदि वैश्यका अपनी वैश्यवृत्तिसे काम न चले तो वह आपत्तिकालमें शिल्प आदिका काम कर सकता है अथवा शूद्रवृत्तिका अवलम्बन लेकर—सेवा करके भी निर्वाह कर सकता है।

श्रीमनुजीने कहा है—

वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत्।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान्॥

(१०।९८)

'वैश्य अपने धर्मसे जीविका करनेमें असमर्थ हो तो वह न करनेयोग्य कर्मोंको छोड़कर शूद्रकी वृत्तिसे भी निर्वाह कर सकता है, परंतु समर्थ होनेपर शूद्रवृत्ति छोड़ दे।'

उपर्युक्त तीनों वर्णोंके कर्मोंमें वेदाभ्यास ब्राह्मणके लिये और प्रजाका पालन क्षत्रियके लिये एवं व्यापार-कर्म वैश्यके लिये श्रेष्ठ

है;* किंतु यज्ञ करना, दान देना और वेदाध्ययन—ये क्षत्रिय और वैश्यके लिये भी विहित हैं। इनका निष्कामभावसे पालन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो परमात्माको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(१८।५-६)

'यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं हैं, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म विवेकी पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं। इसलिये हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये। यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।'

शूद्रके धर्म

श्रीमनुस्मृतिमें आया है—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

(१।९१)

---

* वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम्।
वार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु॥
(मनु० १०।८०)

'प्रभुने शूद्रको एक ही कर्म करनेका आदेश दिया है कि वह इन चारों वर्णोंकी ईर्ष्यारहित होकर सेवा करे।'

गीतामें भगवान्‌ने भी कहा है—

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

(१८। ४४ का उत्तरार्ध)

'सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है।'

अतः शूद्रके लिये सब वर्णोंकी सेवा करना यह एक ही आजीविकाका कर्म है। आपत्तिकालमें वह शिल्पवृत्तिसे निर्वाह कर सकता है।

श्रीमनुजीने कहा है—

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत् कारुककर्मभिः॥

(मनु० १०। ९९)

'जो शूद्र द्विजातियोंकी सेवा करनेमें असमर्थ हो और जिसके स्त्री-पुत्र क्षुधासे पीड़ित हों, वह कारीगरीसे जीविका चला सकता है।'

किंतु वह आपत्तिकालमें भी ब्राह्मणका कर्म कभी न करे।

इस प्रकार ऊपर चारों वर्णोंके धर्मोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया। इनके सिवा वर्णधर्मकी अन्य बातें समूहरूपसे गृहस्थाश्रमधर्मके वर्णनमें पहले बतलायी जा चुकी हैं।

इस वर्ण-विभागके बिना तो किसी मनुष्यका भी कार्य नहीं चल सकता। पहले समूची पृथ्वीपर ही इसका प्रचार था। अब भी भारतवर्षमें तो यह प्रचलित है ही, भारतवर्षके सिवा यूरोप, अमेरिका आदि देशोंमें भी यह प्रकारान्तरसे प्रचलित है। भेद इतना ही है कि यहाँ

जन्म और कर्म दोनोंसे वर्ण माना जाता है और वहाँ केवल कर्मकी ही प्रधानता है। जैसे मौलबी, पादरी, अध्यापक, व्याख्यानदाता आदि जो कार्य करते हैं, वह एक प्रकारसे ब्राह्मणका ही काम है। सैनिक, योद्धा, शासक, रक्षक और न्यायकर्ता आदि क्षत्रियका ही काम करते हैं। व्यापारी, किसान, पशुरक्षक आदि वैश्यका ही काम करते हैं। एवं श्रमिक, सेवक, शिल्पी (कारीगर) आदि शूद्रका ही काम करते हैं। इस प्रकार ये चार विभाग विदेशोंमें भी हैं; पर हैं कर्मसे। इस विभागके बिना तो किसी भी देशका कार्य नहीं चल सकता। किंतु शास्त्रोंमें जन्म और कर्म दोनोंसे ही वर्ण-विभाग माना गया है और उसीमें सबका परम हित है। यदि जातिका ब्राह्मण है और उसके आचरण शूद्रके-से हैं तो वह ब्राह्मण वास्तवमें ब्राह्मण नहीं है। इसी प्रकार जातिका तो शूद्र है, किंतु आचरण ब्राह्मणके-जैसे हैं तो वह शूद्र शूद्र नहीं है। महाभारतमें सर्परूपधारी नहुषके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए महाराज युधिष्ठिरने कहा है—

शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥

(महा० वन० १८०। २५-२६)

'सर्प! यदि शूद्रमें उपर्युक्त सत्य आदि ब्राह्मणोचित लक्षण हैं और ब्राह्मणमें नहीं हैं तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है। सर्प! जिसमें ये सत्य आदि लक्षण विद्यमान हों, वह ब्राह्मण माना गया है और जिसमें इन लक्षणोंका अभाव हो, उसे शूद्र कहना चाहिये।'

महाराज युधिष्ठिरने यक्षके प्रश्नका उत्तर देते हुए भी यही कहा है—

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः॥

(महा० वन० ३१३। १११)

'चारों वेद पढ़ा होनेपर भी जो दुराचारी है, वह शूद्रसे भी बढ़कर नीचा है। जो नित्य अग्निहोत्रमें तत्पर और जितेन्द्रिय है, वही ब्राह्मण कहा जाता है।'

आत्माके उद्धारमें तो आचरण प्रधान है तथा संसारकी सामाजिक और व्यावहारिक सुव्यवस्थामें जाति प्रधान है। उदाहरणके लिये यदि घरमें विवाह, यज्ञ या श्राद्ध आदि कराना है अथवा देव या पितृ-कर्ममें ब्राह्मण-भोजन कराना है तो उसमें जातिसे ब्राह्मणकी ही प्रधानता है; क्योंकि उसके लिये ब्राह्मणको ही बुलाना उचित है, शूद्रको नहीं।

अतः शास्त्रोंमें बतलाये हुए अपने-अपने धर्मका पालन करना चाहिये, इसीमें सबका परम हित और कल्याण है। श्रीमनुजीने कहा है—

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः॥

(मनु० १०। ९७)

'अपना धर्म गुणरहित हो, तो भी श्रेष्ठ है और परधर्म अच्छी प्रकार अनुष्ठान किया हुआ भी श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि परधर्मसे जीवन बितानेवाला मनुष्य तुरंत अपनी जातिसे पतित हो जाता है।'

गीतामें भगवान्‌ने भी कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३।३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मकी अपेक्षा गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्मके पालनमें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।

स्वधर्म-पालनका महत्त्व और फल भगवान्‌ने यों बतलाया है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४५-४६)

'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको सुनो। जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा (सेवा) करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

अभिप्राय यह है कि भगवान् इस जगत्‌की उत्पत्ति-स्थिति-संहार करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके प्रेरक, सबके आत्मा, सर्वान्तर्यामी और सबमें व्यापक हैं, यह सारा जगत् उन्हींकी रचना है और वे स्वयं ही अपनी योगमायासे जगत्‌के रूपमें प्रकट हुए हैं, अतः यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌का है तथा मेरे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा

मेरे द्वारा जो कुछ भी यज्ञ, दान आदि स्ववर्णाश्रमोचित कर्म किये जाते हैं, वे सब भी भगवान्‌के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्‌का हूँ—ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि समस्त देवताओंके एवं प्राणियोंके आत्मा होनेके कारण वे ही समस्त कर्मोंके भोक्ता हैं (गीता ५। २९)—इस प्रकार परम श्रद्धा-विश्वासके साथ समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा जो समस्त जगत्‌का आदर-सत्कार और सेवा करता है अर्थात् समस्त प्राणियोंको सुख पहुँचानेके लिये उनके हितमें रत हुआ उपर्युक्त प्रकारसे स्वार्थ-त्यागपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करता है, वह मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

इन श्लोकोंमें 'नर' और 'मानव' शब्द देकर भगवान्‌ने यह व्यक्त किया है कि प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रममें क्यों न हो, अपने कर्मोंसे भगवान्‌की पूजा करके परम सिद्धिरूप परमात्माको प्राप्त कर सकता है; परमात्माको प्राप्त करनेमें सभी मनुष्योंका समान अधिकार है। अपने अध्ययनाध्यापन आदि कर्मोंको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के समर्पण करके उनके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला ब्राह्मण जिस पदको प्राप्त होता है, अपने प्रजापालनादि कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला क्षत्रिय भी उसी पदको प्राप्त होता है; उसी प्रकार अपने वाणिज्य, गोरक्षा आदि कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला वैश्य तथा अपने सेवा-सम्बन्धी कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला शूद्र भी उसी परमपदको प्राप्त होता है। यही बात आश्रमधर्मके सम्बन्धमें समझ लेनी चाहिये।

अतएव कर्मबन्धनसे छूटकर परमात्माको प्राप्त करनेका, जो मानव-जीवनका चरम उद्देश्य और लक्ष्य है, यह बहुत ही सुगम मार्ग

है। इसलिये मनुष्यको उपर्युक्त निष्कामभावसे तत्परतापूर्वक अपने धर्मका पालन करना चाहिये, भारी आपत्ति पड़नेपर भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। महाभारतमें बतलाया भी है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गारोहण० ५। ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवन-रक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है।'

इसलिये मरण-संकट उपस्थित होनेपर भी मनुष्यको चाहिये कि वह हँसते-हँसते मृत्युको स्वीकार कर ले, पर स्वधर्मका त्याग किसी भी हालतमें न करे। इसीमें मनुष्यका सब प्रकारसे कल्याण है।

इन्द्रियों और मनका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद, संयम और वैराग्य

परमात्माकी प्राप्तिमें ये तीन बातें बहुत ही सहायक हैं—

१-इन्द्रियों और मनको अपने-अपने विषयोंसे रोकना अर्थात् उनका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करना।

२-इन्द्रियों और मनको अपने वशमें कर लेना।

३-मन-इन्द्रियोंके विषयरूप इस संसारसे तीव्र वैराग्य करना।

इनमें इन्द्रियों और मनका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी अपेक्षा उनको अपने वशमें करना विशेष लाभदायक है; क्योंकि मनको वशमें किये बिना परमात्माकी प्राप्तिरूप योगकी सिद्धि सम्भव नहीं।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें बतलाया है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(६।३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है— यह मेरा मत है।'

इन्द्रियोंका नियन्त्रण मनके नियन्त्रणके अन्तर्गत ही है; क्योंकि भगवान्‌ने पहले इन्द्रियोंको वशमें करनेके पश्चात् मनको वशमें करनेकी बात गीता अध्याय ३ श्लोक ४१,४३में कही है।

मन-इन्द्रियोंको वशमें करनेकी अपेक्षा संसारसे वैराग्य करना और भी उत्तम है; क्योंकि वैराग्यसे ही मन वशमें होता है (गीता ६।३५)।

जब वैराग्यसे मन ही वशमें हो जाता है, तब उससे इन्द्रियाँ वशमें होनेकी तो बात ही क्या है ! तथा वैराग्यसे ही मन और इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद भी हो जाता है।

वैराग्यके बिना कर्मयोग, भक्तियोग, अष्टाङ्गयोग, ज्ञानयोग—किसी भी साधनकी सिद्धि नहीं होती। वैराग्य होनेसे ही ये सब साधन सिद्ध होते हैं; क्योंकि साधनमें वैराग्य ही प्रधान है।

भगवान्‌ने गीतामें वैराग्य—आसक्तिके अभावसे ही कर्मयोगकी सिद्धि बतलायी है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

(६।४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें समस्त संकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है।'

इसी प्रकार भक्तियोगके साधनमें भी भगवान्‌ने आसक्तिके अभावरूप वैराग्यकी आवश्यकता दिखलायी है—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥

(गीता १५।३ का उत्तरार्ध)

'इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर (परमपदरूप परमेश्वरके शरण हो उनको खोजना चाहिये)।'

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः। (गीता १५।५ का प्रथम चरण)

'जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है (वे ज्ञानीजन अव्ययपदको प्राप्त करते हैं)।'

मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।　　(गीता ११ । ५५ का दूसरा चरण)

'जो मेरा भक्त और आसक्तिसे रहित है (वह मुझको प्राप्त होता है) ।'

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

(गीता १४ । २६ का पूर्वार्ध)

'जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है (वह ब्रह्मको प्राप्त करनेमें समर्थ है) ।'

क्योंकि भक्तियोगके साधकको भगवान्‌में अनन्य प्रेम हुए बिना भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती । यदि किसी भी पदार्थमें ममता और प्रीति है तो वह अनन्य भक्ति नहीं, वह तो भक्तिमें कलङ्क है ।

इसी प्रकार अष्टाङ्गयोगकी सिद्धि भी वैराग्यसे ही होती है । चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको योग कहते हैं—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।　　(योगदर्शन १ । २)

उन चित्तवृत्तियोंके निरोधका उपाय महर्षि पतञ्जलिजीने यों बतलाया है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।　　(योगदर्शन १ । १२)

'उन चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्यास और वैराग्यसे होता है ।' अतः चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप योगमें भी वैराग्य प्रधान है । तथा आगे जाकर श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ।　　(योगदर्शन १ । २१)

'जिनके अभ्यास-वैराग्यरूप साधनकी गति तीव्र है, उनकी (निर्बीज समाधि) शीघ्र सिद्ध होती है ।'

तीव्र वैराग्यसे ही साधनकी गति तीव्र होती है और तीव्र वैराग्यको ही 'पर-वैराग्य' बतलाया गया है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। (योगदर्शन १। १६)

'पुरुषके ज्ञानसे जो प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव हो जाना है, वह 'पर-वैराग्य' है।'

इससे ज्ञानकी प्राप्ति शीघ्र होती है।

ऐसे ही ज्ञानयोग-निष्ठाकी सिद्धिमें भी वैराग्यकी प्रधानता है। गीतामें ज्ञानयोगकी परानिष्ठाका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने प्रधानतासे नित्य ध्यानयोगके परायण रहने और वैराग्यका आश्रय लेनेका ही आदेश दिया है—

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः। (गीता १८। ५२ का उत्तरार्ध)

'निरन्तर ध्यानयोगके परायण और भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला पुरुष (ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये समर्थ होता है)।'

तथा गीता अध्याय १३ श्लोक ७ से ११ तक जो ज्ञानके बीस साधन बतलाये गये हैं, उनमें भी वैराग्यका बार-बार वर्णन किया गया है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।

(गीता १३। ८,९ का पूर्वार्ध)

'इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना; पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव तथा ममताका न होना—(ये सब ज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं)।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि मन-इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-

विच्छेद, मन-इन्द्रियोंका संयम और संसारसे तीव्र वैराग्य—इन तीनोंमें वैराग्य ही प्रधान है।

देखनेमें भी आता है कि जब-जब चित्तमें वैराग्य होता है, तब-तब स्वतः ही साधन तेज होने लगता है और मन-इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही संसारके पदार्थोंसे उपरत होकर परमात्मामें अनायास लग जाती हैं तथा वैराग्यके बिना तो प्रयत्न करनेपर भी मन परमात्मामें कठिनतासे ही लग पाता है और लगकर भी स्थिर नहीं रहता। अतः वैराग्यके बिना परमात्माकी प्राप्तिके किसी भी साधनकी सिद्धि होनी कठिन है।

एवं मन-इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर भी वैराग्यके बिना स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त नहीं होती। भगवान्‌ने कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(गीता २।५९)

इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परंतु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।

मन-इन्द्रियाँ वशमें होनेपर भी यदि संसारसे वैराग्य नहीं है तो उसका कल्याण होना कठिन है। योगदर्शनके विभूतिपादमें बतलाया गया है—

त्रयमेकत्र संयमः। (योगदर्शन ३।४)

'किसी एक ध्येय विषयमें धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंका होना 'संयम' है।'

किंतु मन-इन्द्रियाँ वशमें हुए बिना इन तीनोंकी सिद्धि ही नहीं हो

सकती तथा इस 'संयम' के द्वारा ही हर प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये सभी सिद्धियाँ आत्मकल्याणमें विघ्न हैं। अतः इनसे वैराग्य होनेपर ही मनुष्यका संसार-सागरसे उद्धार हो सकता है—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।

(योगदर्शन ३। ५०)

'उपर्युक्त सिद्धियोंमें भी वैराग्य होनेसे दोषके बीजका नाश हो जानेपर कैवल्यकी प्राप्ति हो जाती है।'

इससे यही सिद्ध हुआ कि मन-इन्द्रियोंके संयमकी अपेक्षा वैराग्य ही श्रेष्ठ है।

वैराग्य—रागके अभावसे द्वेषका अभाव तो स्वतः ही हो जाता है; क्योंकि जहाँ राग नहीं है, वहाँ द्वेष सम्भव नहीं। अनुकूलमें रागबुद्धि होनेसे ही तो प्रतिकूलमें द्वेषबुद्धि होती है। महर्षि पतञ्जलिजीने पञ्चक्लेशोंमें रागके बाद ही द्वेषका उल्लेख किया है—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।

(योगदर्शन २। ३)

'अविद्या (अज्ञान), अस्मिता (चेतन और जडकी एकता), राग, द्वेष और अभिनिवेश (मरनेका भय)—ये पाँचों (दुःखप्रद होनेके कारण) 'क्लेश' हैं।'

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्····।

(योगदर्शन २। ४)

'ऊपर जिनका वर्णन अविद्याके बाद किया गया है, उन अस्मिता आदि चारों क्लेशोंका कारण अविद्या है।'

अतः अविद्याके नाशसे अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन चारोंका नाश हो जाता है, इस न्यायसे रागके नाशसे द्वेष और

अभिनिवेशका स्वतः ही नाश हो जाता है।

इसलिये गीतामें केवल आसक्तिके नाशसे ही परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(गीता ३। १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

कर्मयोगके साधनमें मन-इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध रहते हुए भी राग-द्वेषका अभाव और मन-इन्द्रियाँ वशमें होनेपर साधकका कल्याण हो सकता है। भगवान्‌ने बतलाया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २। ६४-६५)

'परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

इसी प्रकार भक्तियोगके साधनमें भी भगवान्‌के शरण हो जानेपर

मन-इन्द्रियोंके द्वारा कर्म करते हुए भी भगवत्कृपासे कल्याण हो सकता है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

(गीता १८ । ५६)

'मेरे परायण हुआ पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परम पदको प्राप्त हो जाता है।'

इसी प्रकार ज्ञानयोगके साधनमें भी मन-इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ भी साधक परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

भगवान्‌ने कहा है—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

(गीता ५ । ८-९)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्याग करता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निस्संदेह यह माने कि मैं कुछ भी नहीं करता।'

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

(गीता १४ । १९)

'जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

फिर भी साधकको उचित है कि मन-इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संसर्ग न करे; क्योंकि इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर वे इन्द्रियाँ मनुष्यके मनको बलात् हरण कर लेती हैं। फिर मन और इन्द्रियाँ—ये दोनों मिलकर इसकी बुद्धिको हरण कर लेते हैं, जिससे इसका पतन हो जाता है।

भगवान्‌ने कहा है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

(गीता २। ६०)

'अर्जुन! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं।'

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

(गीता २। ६७)

'क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरण करती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त (साधनरहित) पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है।'

इसलिये साधकको इन्द्रियों और विषयोंके संसर्गसे सदा दूर ही

रहना चाहिये; क्योंकि इन्द्रियाँ विद्वान् पुरुषके भी चित्तको मोहित करके विषयोंकी ओर आकर्षित कर लेती हैं। श्रीमनुजीने बतलाया है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(मनु० २। २१५)

'मनुष्यको चाहिये कि माता, बहिन या लड़कीके साथ भी एकान्तमें न बैठे; क्योंकि बलवान् इन्द्रियोंका समूह विद्वान्को भी (विषयभोगकी ओर) खींच लेता है।'

देखनेमें भी आता है कि कोई सुन्दरी युवती स्त्री सामने आनेपर मनुष्य उसे देखने लगता है तो मन उसे धोखा देता है कि देखनेमात्रमें कोई थोड़े ही पाप है; परंतु देखते-देखते मन उसमें रस लेने लगता है और फिर उसमें पापबुद्धि होकर उसका पतन हो जाता है। इसी तरह जिह्वा-इन्द्रियके विषयमें—मेवा, मिष्टान्न, फल आदि मधुर और रुचिकर पदार्थोंके प्राप्त होनेपर मन धोखा देता है कि इनको खानेमें कोई हानि नहीं है, किंतु उनको खानेपर उनमें स्वाद और सुखबुद्धि होकर वह उसमें फँस जाता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके विषयोंमें भी समझ लेना चाहिये तथा साधकको विषयोंके संसर्गसे सदा सावधान रहना चाहिये। भगवान् गीतामें कहते हैं—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(२। ६८)

'इसलिये महाबाहो! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है।'

केवल मनसे विषयोंका चिन्तन भी साधकके लिये सारे अनर्थोंका मूल है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

(गीता २ । ६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें बाधा पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है।'

अतएव साधकको मन और इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध जितना कम-से-कम हो, वैसी चेष्टा करनी चाहिये। यदि संसर्ग करना हो तो मन-इन्द्रियोंको वशमें करके और ममता तथा रागद्वेषसे रहित होकर या भगवान्‌के शरण होकर अथवा भगवान्‌के तत्त्वको समझकर संसर्ग करना चाहिये। यही कल्याणका मार्ग है।

भक्तों और ज्ञानियोंके लिये भी शास्त्र-विहित कर्मोंकी परम आवश्यकता

जिन मनुष्योंको शास्त्रोंका ज्ञान नहीं है और जिनकी शास्त्रोंपर श्रद्धा नहीं है, वे अज्ञ मनुष्य भक्ति अथवा ज्ञानका बहाना बनाकर शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर देते हैं; किंतु श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणोंमें शास्त्रोक्त कर्मोंका त्याग किसीके लिये भी नहीं बताया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(१८।५)

'यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करने योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्यकर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये ज्ञानी पुरुषोंको भी पवित्र करनेवाले हैं।'

इतना ही नहीं, भगवान्‌ने इसके लिये यहाँतक कह दिया है—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(गीता १८।६)

'इसलिये हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये। यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।'

शास्त्रविहित निष्कामकर्मके बिना तो ज्ञानयोगकी सिद्धि भी सरलतासे नहीं होती—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।

((गीता ५।६ का पूर्वार्ध)

'हे अर्जुन ! कर्मयोगके बिना तो संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग होना भी कठिन है।'

तथा भक्तियोगमें भी भगवदर्पण किया हुआ कर्म परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला बताया गया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

(गीता ९।२७-२८)

'हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे। इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे समर्पणयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

अतः ज्ञानयोगी और भक्तियोगी दोनोंके लिये ही शास्त्रविहित कर्मोंकी अत्यन्त आवश्यकता है। फिर इसमें तो कहना ही क्या है कि कर्मयोगीके लिये कर्म अत्यावश्यक है; क्योंकि उसका तो कर्मयोग कर्म किये बिना सिद्ध ही नहीं हो सकता—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।

(गीता ३ । ४ का पूर्वार्ध)

'कर्मोंका आरम्भ किये बिना मनुष्य निष्कर्मताको यानी योगनिष्ठाको नहीं प्राप्त होता ।'

इसीलिये योगको प्राप्त करनेकी इच्छावाले मनुष्य निष्कामकर्मका आचरण करते हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।

(गीता ६ । ३का पूर्वार्ध)

'योगमें आरूढ़ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्कामभावसे कर्म करना ही हेतु कहा जाता है ।'

ज्ञानयोगकी सिद्धि भी कर्मोंके त्यागसे नहीं हो सकती । भगवान् कहते हैं—

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।

(गीता ३ । ४का उत्तरार्ध)

'केवल कर्मोंके त्यागमात्रसे मनुष्य सिद्धि यानी ज्ञाननिष्ठाको नहीं प्राप्त होता ।'

इसलिये किसी भी दृष्टिसे कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं । कितने ही लोग आसन लगाकर बैठ जाते हैं और परमात्माके ध्यानके बहाने भोली-भाली जनताको ठगते हैं । उनके केवल ऊपरी आसन लगानके ढंगको देखकर ही भ्रममें पड़कर उनके चंगुलमें नहीं फँसना चाहिये । जो बाहरी इन्द्रियोंको समेटकर भीतरसे विषयोंका चिन्तन करते हैं, उनको तो भगवान्‌ने दम्भाचारी बतलाया है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

(गीता ३ । ६)

'जो मूढ़बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।'

कितने ही लोग भक्तिका बहाना लेकर कहते हैं कि 'भक्तको कोई भी कर्म करनेकी कोई आवश्यकता नहीं, भक्तिके प्रभावसे उसके सब कार्य स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं' तथा वे संध्या-गायत्री, यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर देते हैं। वे यह नहीं समझते कि भक्तिके बहाने शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करनेसे मनुष्य पतित हो जाता है। श्रीनारदपुराणमें बतलाया गया है—

नोपास्ते यो द्विजः संध्यां धूर्त्तबुद्धिरनापदि।
पाखण्डः स हि विज्ञेयः सर्वधर्मबहिष्कृतः॥
यस्तु संध्यादिकर्माणि कूटयुक्तिविशारदः।
परित्यजति तं विद्यान्महापातकिनां वरम्॥

(२७। ६७-६८)

'जो धूर्त बुद्धिवाला द्विज आपत्तिकाल न होनेपर भी संध्योपासन नहीं करता, उसे सब धर्मोंसे भ्रष्ट एवं पाखण्डी समझना चाहिये। जो कपटपूर्ण झूठी युक्ति देनेमें चतुर होनेके कारण संध्या आदि कर्मोंको अनावश्यक बताते हुए उनका त्याग कर देता है, उसे महापातकियोंका सिरमौर समझना चाहिये।'

यः स्वधर्मं परित्यज्य भक्तिमात्रेण जीवति।
न तस्य तुष्यते विष्णुराचारेणैव तुष्यति॥
सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥
तस्मात् कार्या हरेर्भक्तिः स्वधर्मस्याविरोधिनी।

सदाचारविहीनानां धर्मा अप्यसुखप्रदाः ॥
स्वधर्महीना भक्तिश्चाप्यकृतैव प्रकीर्तिता ।

(ना० पु० १५ । १५३—१५६)

'जो स्वधर्मका परित्याग करके भक्तिमात्रसे जीवन धारण करता है, उसपर भगवान् विष्णु संतुष्ट नहीं होते । वे तो धर्माचरणसे ही संतुष्ट होते हैं । सम्पूर्ण आगमोंमें आचारको प्रथम स्थान दिया गया है । आचारसे धर्म प्रकट होता है और धर्मके स्वामी साक्षात् भगवान् विष्णु हैं । इसलिये स्वधर्मका विरोध न करते हुए श्रीहरिकी भक्ति करनी चाहिये । सदाचारशून्य मनुष्योंको धर्म भी सुख देनेवाले नहीं होते । स्वधर्मपालनके बिना की हुई भक्ति भी नहीं की हुईके समान ही कही गयी है ।'

हरिभक्तिपरो वापि हरिध्यानपरोऽपि वा ।
भ्रष्टो यः स्वाश्रमाचारात् पतितः सोऽभिधीयते ॥

(ना० पु० ४ । २४)

'भगवान् श्रीहरिकी भक्तिमें तत्पर तथा श्रीहरिके ध्यानमें लीन होकर भी जो अपने वर्णाश्रमोचित आचारसे भ्रष्ट हो, उसे पतित कहा जाता है ।'

वेदो वा हरिभक्तिर्वा भक्तिर्वापि महेश्वरे ।
आचारात् पतितं मूढं न पुनाति द्विजोत्तम ॥

(ना० पु० ४ । २५)

'द्विजश्रेष्ठ ! वेद, भगवान् विष्णुकी भक्ति अथवा शिव-भक्ति भी आचारभ्रष्ट मूढ़ पुरुषको पवित्र नहीं करती ।'

इसलिये भक्तिमार्गपर चलनेवाले मनुष्यको कभी भूलकर भी शास्त्रविहित उत्तम आचरणोंका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि

जो ईश्वर-भक्ति शास्त्रविहित सदाचार-पालनपूर्वक की जाती है, वही प्रशंसनीय और कल्याणकारिणी है। श्रीनारदपुराणमें बतलाया गया है—

ज्ञानलभ्यं परं मोक्षमाहुस्तत्त्वार्थचिन्तकाः।
यज्ज्ञानं भक्तिमूलं च भक्तिः कर्मवतां तथा॥

(३३। २७)

'तत्त्वार्थका विचार करनेवाले पुरुष कहते हैं कि परम मोक्ष ज्ञानसे ही प्राप्त हो सकता है। उस ज्ञानका मूल है भक्ति और भक्ति प्राप्त होती है अपने कर्तव्यकर्मोंका आचरण करनेवालोंको।'

तथा—

सदाचारपरो विप्रो वर्द्धते ब्रह्मतेजसा।
तस्य विष्णुश्च तुष्टः स्याद् भक्तियुक्तस्य नारद॥

(ना० पु० ३। ७८)

'नारदजी! सदाचारपरायण ब्राह्मण अपने ब्रह्मतेजके साथ वृद्धिको प्राप्त होता है। उस सदाचारी भक्तिसम्पन्न पुरुषपर भगवान् विष्णु बहुत प्रसन्न होते हैं।'

ब्रह्माजीने यज्ञादि कर्मोंकी और प्रजाकी रचना करके मनुष्योंको कर्म करनेके लिये विशेषरूपसे आज्ञा दी है एवं उन शास्त्रविहित कर्मोंको न करनेवालेको चोर बतलाया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

(गीता ३ । १०—१२)

'प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित फलभोग प्रदान करनेवाला हो । तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें । इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याण (मुक्ति) को प्राप्त हो जाओगे । यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे । इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको दिये बिना स्वयं भोगता है, वह चोर ही है ।'

इतना ही नहीं, भगवान्‌ने उसे पापायु, इन्द्रियाराम और व्यर्थ-जीवन बतलाया है—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

(गीता ३ । १६)

'हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है ।'

यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करके जो अपने इच्छानुसार चलता है, उसकी भगवान्‌ने निन्दा की है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६। २३)

'जो पुरुष शास्त्रविधिका त्याग कर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है,वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको ही।'

अतएव जो मनुष्य अपनेको ज्ञानी-महात्मा बताकर शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर देते हैं, वे बेसमझीके कारण गलती करते हैं; क्योंकि—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

(गीता ३। २०का पूर्वार्ध)

'जनकादि ज्ञानियोंने आसक्तिरहित कर्मके द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की है।'

भगवान् श्रीकृष्णने यहाँ अर्जुनको यह आदेश दिया है कि तू मेरा भक्त है, इसलिये लोकसंग्रहकी ओर दृष्टिपात करके अर्थात् संसारके हितके लिये भी तुझे कर्म करना ही चाहिये—

लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि।

(गीता ३। २०का उत्तरार्ध)

यही नहीं, भगवान् अपना उदाहरण देकर भी वर्णाश्रमानुसार शास्त्रविहित कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

(गीता ३ । २२—२४)

'हे अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्म ही करता हूँ; क्योंकि पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान हुआ कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि मैं शास्त्रविहित कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।'

अतः ज्ञानी पुरुषोंको भी संसारके हितकी दृष्टिसे कर्म अवश्य ही करने चाहिये। अज्ञानी और ज्ञानीके कर्मोंमें अन्तर केवल इतना ही है कि अज्ञानी सकाम मनुष्य कर्मोंमें आसक्त होकर कर्म करते हैं और ज्ञानियोंको अनासक्त भावसे कर्म करने चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

(गीता ३ । २५)

'हे भारत ! कर्ममें आसक्त हुए (सकाम) अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।'

इससे यह सिद्ध हो गया कि जो मनुष्य ज्ञानी बनकर यह कहता

श्रीविष्णुपुराणमें महाराज सगरके प्रति महात्मा और्वके वचन हैं—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥

(३।८।९)

'जो वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेवाला है, वही मनुष्य परम पुरुष श्रीविष्णुकी आराधना कर सकता है, उनको संतुष्ट करनेका और कोई मार्ग नहीं है।'

क्योंकि शास्त्रविहित कर्म करनेवाले मनुष्योंपर भगवान् प्रसन्न होते हैं। जो शास्त्रोक्त कर्मोंका त्याग कर देते हैं और भगवान्‌की प्राप्ति चाहते हैं, उनको भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती; बल्कि उनसे तो भगवान् बहुत दूर रहते हैं। किंतु जो शास्त्रविहित उत्तम आचरण करते हुए भगवान्‌की भक्ति करते हैं, वे ही उनको प्राप्त करते हैं। श्रीनारदपुराणमें बताया गया है—

वेदप्रणिहितो धर्मो वेदो नारायणः परः।
तत्राश्रद्धापरा ये तु तेषां दूरतरो हरिः॥

(४।१७)

'धर्मका प्रतिपादन वेदमें किया गया है और वेद साक्षात् परम पुरुष नारायणका स्वरूप है; अतः वेदोंमें जो अश्रद्धा रखनेवाले हैं, उन मनुष्योंसे भगवान् बहुत ही दूर हैं।'

वर्णाश्रमाचाररताः सर्वपापविवर्जिताः।
नारायणपरा यान्ति यद् विष्णोः परमं पदम्॥

(ना॰ पु॰ २७।१०६)

'वर्ण और आश्रमसम्बन्धी धर्मके पालनमें तत्पर एवं सारे पापोंसे

रहित नारायणपरायण भक्त ही भगवान् विष्णुके परम धामको प्राप्त होते हैं।'

वर्णाश्रमाचाररता भगवद्भक्तिलालसाः।
कामादिदोषनिर्मुक्तास्ते सन्तो लोकशिक्षकाः॥

(ना० पु० ४। ३४)

'जो वर्णाश्रमोचित कर्तव्यके पालनमें तत्पर, भगवद्भक्तिके सच्चे अभिलाषी तथा काम, क्रोध आदि दोषोंसे मुक्त हैं, वे ही सम्पूर्ण लोकोंको शिक्षा देनेवाले संत हैं।'

कितने ही लोग गीतामें कहे हुए '**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**' इस भगवद्वाक्यका आश्रय लेकर यज्ञ, दान, तप, सदाचार आदि शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देते हैं, किंतु उपर्युक्त भगवद्वाक्यका अर्थ 'शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके भगवान्‌की शरण लेना' नहीं है। यदि इसका यही अर्थ होता तो अर्जुन भी अपने क्षत्रियधर्म युद्ध आदिको त्यागकर और वनमें जाकर अकर्मण्य हो भगवान्‌की भक्ति करते; किंतु अर्जुनने ऐसा नहीं किया। प्रत्युत सम्पूर्ण गीताका उपदेश करनेके पश्चात् भगवान्‌ने जब अर्जुनसे पूछा—'पार्थ! क्या इस गीताशास्त्रको तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया? और हे धनंजय! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया? (गीता १८। ७२) तब इसके उत्तरमें अर्जुनने यही कहा—'अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा—'**करिष्ये वचनं तव**' (गीता १८। ७३)। इसपर भगवान्‌ने अर्जुनसे युद्ध कराया और अर्जुनने युद्ध ही किया। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वर्णाश्रमानुसार शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं

करना चाहिये, बल्कि सारे कर्म करते हुए ही उनको भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहिये। यही बात भगवान्‌ने गीता १८। ५७ में कही है—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।

यहाँ वर्णित 'सब कर्मोंको मनसे मुझमें त्यागकर मेरे परायण होना' और १८। ६६में वर्णित 'सम्पूर्ण धर्मोंको (मुझमें) त्यागकर केवल एक मेरी ही शरणमें आ जाना' दोनों एक ही बात है।

इसलिये **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** का यह अर्थ करना कि 'सब धर्मोंको स्वरूपसे छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा'—सर्वथा अनुचित है।*

मनुष्य सर्वथा कर्मका त्याग कर भी नहीं सकता; क्योंकि कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (गीता ३। ५), अपने स्वभावके अनुसार मनुष्यको बाध्य होकर कर्म करना ही पड़ता है (गीता १८। ६०)। इसलिये कर्मोंको स्वरूपसे न छोड़कर कर्मोंके फलका एवं आसक्ति, ममता और अभिमानका त्याग करना चाहिये; इसीसे मनुष्यको परम शान्ति मिलती है (गीता २। ७१)।

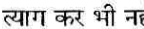

---

* इस विषयमें विस्तारसे जाननेके लिये 'परमशान्तिका मार्ग' पुस्तकमें दिये हुए 'सर्वधर्मपरित्यागका रहस्य' शीर्षक लेखको देखना चाहिये।

लोकसंग्रहका रहस्य

लोकसंग्रह किसे कहते हैं—इसपर विचार किया जाता है। गीताके कई टीकाकार विद्वानोंने लोकसंग्रहका अर्थ 'लोगोंको उन्मार्गसे हटाना और अपने-अपने धर्ममें प्रवृत्त करना' किया है। अन्य टीकाकार कहते हैं कि लोगोंको उन्मार्गमें प्रवृत्त होनेसे निवारण करना लोकसंग्रह है। एवं कुछ टीकाकारोंने लोकसंग्रहका अर्थ लोकरक्षण या लोगोंका धर्म-परिसंग्रह भी किया है। लोकमान्य श्रीतिलकजीने लोकसंग्रहका अर्थ यों किया है—लोगोंका संग्रह करना यानी उन्हें एकत्र सम्बद्धकर इस रीतिसे उनका पालन-पोषण और नियमन करना कि उनकी परस्पर अनुकूलतासे उत्पन्न होनेवाला सामर्थ्य उनमें आ जाय एवं उसके द्वारा उनकी सुस्थितिको स्थिर रखकर उन्हें श्रेयःप्राप्तिके मार्गमें लगा देना अर्थात् अज्ञानसे मनमाना बर्ताव करनेवाले लोगोंको ज्ञानवान् बनाकर सुस्थितिमें एकत्र रखना और आत्मोन्नतिके मार्गमें लगाना—लोकसंग्रह है। 'लोकसंग्रह'के शब्दार्थपर दृष्टि डालनेसे उसका यही अर्थ व्यक्त होता है कि लोक यानी मनुष्य और संग्रह यानी उन सबको इकट्ठा करना। अभिप्राय यह कि लोगोंकी बुद्धियाँ भिन्न-भिन्न होनेके कारण वे छिन्न-भिन्न हो रहे हैं और सुखके लिये संसारमें इधर-उधर भटक रहे हैं, किंतु उनको वास्तविक सुख नहीं मिलता; इसलिये लोकहित चाहनेवाले महापुरुषोंको उचित है कि वे संसारमें भटकनेवाले मनुष्योंको सब ओरसे हटाकर एक परमात्मामें ही संग्रह करें अर्थात् उन्हींमें लगायें। वस्तुतः सिद्ध महात्मा पुरुषोंके और भगवान्‌के तो सारे कर्म स्वाभाविक ही लोकसंग्रहके लिये ही होते हैं; उनके वे लोकहितके कर्म ही साधकके लिये आदर्श साधन हैं। अतः साधक मनुष्य भी अपने आत्माके कल्याणके लिये साधनरूपमें निष्काम भावसे लोक-

संग्रह कर सकता है। साधकोंको उचित है कि वे स्वयं बुरे कर्मोंको छोड़कर कल्याणकी प्राप्तिके लिये शास्त्रविहित उत्तम कर्मोंका निष्काम भावसे आचरण करें; क्योंकि जो स्वयं आचरण करता है, वही दूसरोंको इस कार्यमें लगा सकता है। अर्जुन उच्चकोटिका साधक था, उसको भी भगवान् लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥

(गीता ३।२०)

'जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे—इसलिये तथा लोकसंग्रहको भलीभाँति देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है।'

भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि समस्त प्राणियोंके भरण-पोषण और रक्षणका दायित्व मनुष्यपर है; अतः अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार स्वयं कर्तव्यकर्मोंका निष्काम भावसे भलीभाँति आचरण करके दूसरे लोगोंको अपने उत्तम आदर्शके द्वारा दुर्गुण-दुराचारसे हटाकर सद्गुण-सदाचाररूप स्वधर्ममें लगाये रखना—इस प्रकार सृष्टिसंचालनकी व्यवस्थामें किसी प्रकारकी अड़चन पैदा न करके उसमें सहायक बनना और उसे सुरक्षित बनाये रखना ही लोक-संग्रह है। आजतक बहुत-से पुरुष ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके कर्मयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं। अतः कल्याणकामी मनुष्यको परमात्माकी प्राप्तिके लिये तो आसक्तिसे रहित होकर कर्म करना उचित है ही; इसके सिवा लोकसंग्रहको देखकर अर्थात् 'यदि मैं शास्त्रविहित कर्म न करूँगा तो मुझे आदर्श मानकर मेरा अनुकरण करके दूसरे लोग भी अपने कर्तव्यका त्याग कर देंगे, जिससे सृष्टिमें विप्लव हो जायगा और उसकी व्यवस्था बिगड़ जायगी।'

इसलिये सृष्टिकी सुव्यवस्था बनाये रखनेके लिये मुझे अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करना चाहिये—यह सोचकर भी कर्म करना उचित है।

इतना ही नहीं, भगवान्‌ने आगे जाकर अर्जुनसे यह भी कहा है कि मैंने तुमको जिस गीताशास्त्रका उपदेश किया है, उस गीताशास्त्रके मूल अर्थ और भावोंका जो मेरे भक्तोंमें उनके हितके लिये निष्काम भावसे प्रचार करता है, उसके फलस्वरूप वह मुझको प्राप्त हो जाता है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

(गीता १८। ६८)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीता शास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है।'

भाव यह कि जो मनुष्य इस प्रकार लोक-कल्याणार्थ गीताके भावोंका प्रचार करके संसारमें भटकते हुए लोगोंको परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें लगाता है, उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि साधक मनुष्य भी साधनके रूपमें लोकसंग्रहार्थ कर्म कर सकता है।

यद्यपि सिद्ध ज्ञानी महात्मा पुरुषके लिये भगवान्‌ने यही बतलाया है कि उनके लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(गीता ३। १७-१८)

'परंतु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। उस

महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'

ऐसा होते हुए भी उन ज्ञानी महात्मा पुरुषोंको भी भगवान् लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

(गीता ३। २५)

'भारत! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रहकी इच्छा करता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।'

ज्ञानी महापुरुषोंकी लोकसंग्रह करनेकी यह इच्छा औपचारिक अर्थात् कथनमात्रकी ही है। जैसे जहाँ यह कहा जाता है कि 'यह नदीका तट गिरना ही चाहता है' वहाँ तटमें गिरनेकी कोई इच्छा नहीं होती, केवल उसके गिरनेकी तैयारीका ही इस रूपमें वर्णन किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मामें कोई इच्छा नहीं होती, उनके द्वारा लोकहितार्थ स्वाभाविक होनेवाली प्रयत्नशीलताका ही इस रूपमें वर्णन किया गया है।

भगवान्‌ने ज्ञानी महात्मा पुरुषको कर्म करनेकी प्रेरणा इसीलिये की है कि वे स्वयं जैसा कर्म करते हैं और जैसा वे लोगोंमें प्रचार करते हैं, श्रद्धालु मनुष्य उनके आचरणोंके अनुसार ही अनुष्ठान किया करते हैं और उनके कथनके अनुकूल ही चलते हैं। भगवान्‌ने स्वयं बतलाया है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा ही

आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

वस्तुतः उच्चकोटिके महात्मा पुरुषोंके सभी आचरण विशुद्ध, लीलामात्र और कल्याणकारक हैं; अतः वे अनुकरणीय हैं। उनका अनुकरण करनेसे मनुष्यका सहज ही कल्याण हो सकता है। यक्षके पूछनेपर महाराज युधिष्ठिरने यही कहा है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(महा० वन० ३१३। ११७)

'तर्ककी कहीं स्थिति नहीं, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं; एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा हुआ—अत्यन्त गूढ़ है। अतः जिस मार्गसे महापुरुष गये हैं वह मार्ग ही असली मार्ग है।'

इसीलिये पितामह भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा है—

लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम्॥

(महा० शान्ति० २५९। २६)

'जो लोकसंग्रहसे युक्त है और जिससे धर्म तथा अर्थके सूक्ष्म तत्त्वका ज्ञान होता है, उस सत्पुरुषोंके उत्तम आचरणका ही पूर्वकालमें विधाताने सबके लिये विधान किया है।'

क्योंकि गीता अ० ६ श्लोक ७ से ९ तक वर्णित सिद्ध योगियोंके लक्षण, अ० १२ श्लोक १३से १९ तक वर्णित सिद्ध भक्तोंके लक्षण और अ० १४ श्लोक २२ से २५ तक वर्णित ज्ञानमार्गसे परमात्मप्राप्त

गुणातीत महात्माके लक्षण उन सिद्ध महापुरुषोंमें स्वाभाविक ही होते हैं। उनके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये कल्याणकामी मनुष्यको उपर्युक्त सिद्ध महापुरुषोंके लक्षणों और आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये।

भगवान्‌के तो सभी चरित्र परम पावन और लीलामात्र हैं ही। जब उच्चकोटिके महापुरुषोंके आचरणोंके अनुकरणसे ही कल्याण हो जाता है, तब फिर जो भगवान्‌के चरित्रोंके अनुकूल आचरण करते हैं और उनकी आज्ञाका पालन करते हैं, उनके कल्याणके विषयमें तो कहना ही क्या है ? तथा भगवान्‌की लीलाओंके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझ लेनेपर तो भगवान्‌की लीलाओंके दर्शनसे ही मनुष्यका कल्याण हो जाता है।

वास्तवमें भगवान्‌के लिये तो कोई कर्तव्य है ही नहीं। भगवान् तो आप्तकाम हैं। उनमें न कोई इच्छा है न कामना; किंतु फिर भी लोकसंग्रहके लिये अर्थात् जीवोंके परम कल्याणके लिये ही उनकी सारी चेष्टाएँ होती हैं, जो कि स्वार्थकी गन्धमात्र भी न होनेके कारण हेतुरहित हैं। भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

(गीता ३। २२—२४)

'अर्जुन ! मुझे तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है; तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ। क्योंकि पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो

जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।'

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हेतुरहित परम दयालु भगवान् प्राणियोंको उन्मार्गसे बचाकर सन्मार्गमें लगानेके लिये ही सारी लीलाएँ करते हैं। अतः संसारमें अधर्मके नाश और धर्मके संस्थापनरूप लोक-संग्रह कर्मके लिये ही उनका अवतार होता है। उन्होंने स्वयं बतलाया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

(गीता ४।६—८)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ। अर्जुन! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे अवतार ग्रहण करता हूँ। श्रेष्ठ पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

श्रीमद्भागवतमें भी बतलाया गया है—

बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा
क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि
सतामभद्राणि मुहुः खलानाम्॥

(१०।२।२९)

'आप ज्ञानस्वरूप परमात्मा हैं। चराचर जगत्‌के कल्याणके लिये ही आप अनेकों रूप धारण करते हैं। आपके वे रूप विशुद्ध दिव्य सत्त्वमय होते हैं और संत पुरुषोंको बहुत सुख देते हैं। साथ ही दुष्टोंको उनकी दुष्टताका दण्ड देते हैं, अतः उनको वे अमङ्गलमय लगते हैं।'

तथा—

न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते॥

(श्रीमद्भा० १०।४६।३९)

'इस लोकमें उन भगवान्‌का कोई कर्म नहीं है; फिर भी वे श्रेष्ठ पुरुषोंके परित्राणके लिये, लीला करनेके लिये देवादि सात्त्विक, मत्स्यादि तामस एवं मनुष्य आदि मिश्र योनियोंमें शरीर धारण करते हैं।'

इस प्रकार पृथ्वीपर प्रकट होकर लीला करना ही उनका जन्म और कर्म है। उनके जन्म और कर्म दिव्य होते हैं। जो मनुष्य भगवान्‌के दिव्य जन्म और आचरणके तत्त्व-रहस्यको समझ जाता है, उसका कल्याण हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४।९)

'अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।'

फिर जो मनुष्य भगवान्‌के अनुसार ही आचरण करता है, उसका कल्याण हो जाय, इसके विषयमें तो कहना ही क्या है।

अतः हमलोगोंको उपर्युक्त साधक, सिद्ध और भगवान्‌के लोक-संग्रह कर्मका तत्त्व-रहस्य समझकर महापुरुषों तथा भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार चलना चाहिये और उनके चरित्रोंका अनुकरण करना चाहिये।

संयमसे आत्मोद्धार

मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय और शरीरके संयमसे मनुष्य इस लोक और परलोकपर विजय पा सकता है और अपना परम कल्याण कर सकता है। इसलिये हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिक्ख, यहूदी कोई भी क्यों न हो, संयम सबके लिये परम हितकर है। ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग या ध्यानयोग आदि सभी साधनोंमें मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके संयमसे ही सब प्रकारके योगोंकी सिद्धि होती है। स्वास्थ्यकी रक्षा भी संयमके बिना नहीं होती। इन सबको संयममें रखकर मनुष्य कर्म करता हुआ भी अपना परम कल्याण प्राप्त कर सकता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(२।६१)

'साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे; क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।'

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(२।६४-६५)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है,अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

किंतु वर्तमान समयमें लोगोंमें संयम न होनेके कारण परमात्माकी प्राप्ति तो दूर रही, लोगोंका जीवन ही खतरेमें है। वर्तमानके स्कूल-कालेजोंकी शिक्षा संयमपूर्वक न होनेके कारण लड़कोंमें उच्छृङ्खलता बढ़ती जा रही है, जिसका भावी परिणाम बड़ा भयावह है। संयमकी कमीके कारण प्रायः बालक-बालिकाओंमें उच्छृङ्खलता बढ़ रही है, इसका नतीजा प्रत्यक्षमें बुरा हो रहा है। ये संयमहीन बालक-बालिकाएँ अपने बड़ोंका और अध्यापकोंका तिरस्कार करते हैं, मजाक उड़ाते हैं। इसी प्रकार संयम और अनुशासनकी कमीके कारण स्त्रियोंमें निर्लज्जता और उच्छृङ्खलता बढ़ रही है। वे स्वतन्त्रतापूर्वक जिस किसीके भी साथ खेल-तमाशा, नाटक-सिनेमा आदिमें जाने लगी हैं। सिनेमाके सिवा और भी जहाँ मन होता है वहाँ वे बेरोक-टोक चली जाती हैं। घरका स्वामी या दूसरा कोई हितैषी रोक-टोक करता है तो वे उसका तिरस्कार कर देती हैं। संयमकी कमीके कारण पुरुष राज्य, समाज-शास्त्र, धर्म तथा अच्छे लोगोंका शासन नहीं मानते, इससे उनमें भी उच्छृङ्खलता बढ़ रही है। इन्द्रियलोलुप हो जानेके कारण लोग शुद्ध खान-पान और आचरणसे भ्रष्ट हो रहे हैं। जिन होटलोंमें अंडे, मांस मदिरा आदि रहते हैं उनमें लोग स्वाद-भोग और आरामके वशमें होकर भोजन करने लगे हैं। ये सब पतनके लक्षण हैं। मदिरा-आसव आदि

मादक वस्तुओंके सेवन और परस्त्रीगमनसे बढ़कर और पतन क्या हो सकता है ?

इन सब बातोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करके लोगोंको अपने मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय और शरीरको संयममें करना चाहिये। केवल इन्द्रियोंके संयमसे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है। भगवान्‌ने इन्द्रिय-संयमको भी एक यज्ञ बतलाया है—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥

(गीता ४। २६)

'अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियोंको संयमरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं और दूसरे योगीलोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं।'

यहाँ भगवान्‌ने यह भी बतला दिया कि इन्द्रियसंयम तो एक यज्ञ है ही, इन्द्रियाँ वशमें हो जानेपर उन आसक्तिरहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन भी एक यज्ञ है।

जिस प्रकार केवल इन्द्रियोंके संयमसे या केवल मनके संयमसे कल्याण होता है, उसी प्रकार केवल प्राणोंके संयमसे भी हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥

(गीता ४। २९-३०)

'दूसरे कितने ही योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करनेवाले प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर देनेवाले और यज्ञोंको जाननेवाले हैं।'

फिर सब प्रकारके संयमसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥

(गीता ४। २७)

'दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं।'

इसी तरह 'यज्ञ'के नामसे अनेक प्रकारके साधन गीता अध्याय ४ श्लोक २४ से ३० तक बतलाये गये हैं। उनमेंसे भी किसी भी एक साधनको कर लेनेपर मनुष्यका निश्चय ही कल्याण हो सकता है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

(गीता ४। ३१-३२)

'हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवाले

योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं और यज्ञ न करनेवाले पुरुषके लिये तो यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है। इसी प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा सम्पन्न होनेवाले जान। इस प्रकार तत्त्वसे जानकर उनके अनुष्ठानद्वारा तू कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जायगा।'

जिस मनुष्यके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर वशमें नहीं है वह पशुके समान है। मनुष्ययोनिके सिवा, चाहे देवयोनि ही क्यों न हो, अन्य किसी भी योनिमें इनका संयम सम्भव नहीं है। इसलिये मनुष्यको ही कल्याणका अधिकारी माना गया है, अन्य सब तो भोगयोनियाँ हैं। हमलोग मनुष्ययोनिमें ही हैं, इसलिये हमें मनुष्योचित कर्म करके अपना कल्याण करना चाहिये। पशुओंके समान अपना जीवन नहीं बिताना चाहिये। यदि आहार, निद्रा और मैथुनमें ही हम अपना समय बिता रहे हैं तो फिर पशुमें और मनुष्यमें अन्तर ही क्या रहा ? नीतिमें बतलाया गया है—

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥

(चाणक्यनीति १७। १७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें एक समान ही हैं, मनुष्योंमें केवल विशेषता यही है कि उनमें अपने कर्तव्यका ज्ञान अधिक है, किंतु ज्ञानसे शून्य मनुष्य पशुओंके ही तुल्य हैं।'

यह मनुष्य-शरीर आत्माके उद्धारके लिये मिला है, न कि ऐश-आराम और भोगके लिये एवं न स्वर्गके लिये ही। इस बातको जो मनुष्य ध्यानमें नहीं रखता, वह मूर्ख है। श्रीरामचरितमानसमें अपने प्रजाजनोंको उपदेश देते हुए भगवान् श्रीराम कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४४। १-२)

संसारके विषयभोगोंमें सुख है ही नहीं। विषय-भोगोंकी प्राप्तिका साधन धन भी दुःखरूप ही है; क्योंकि धनके उपार्जन और संग्रह करनेमें प्रायः परिश्रम और पाप करना पड़ता है। उस पापका फल भी इस लोक और परलोकमें महान् दुःखदायी होता है। एवं राज्यसे, चोर-डाकुओंसे और याचकोंसे धनकी रक्षा करनेमें तथा दान देनेमें, खर्च करनेमें, त्याग करनेमें एवं विनाश और वियोगमें कष्ट-ही-कष्ट होता है, अतएव संसारके विषयभोग और धनादि पदार्थोंमें दुःख-ही-दुःख भरा हुआ है; किंतु अज्ञानसे मनुष्यको उसमें सुखबुद्धि हो रही है। महर्षि पतञ्जलिजीने कहा है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

(योग० साधन० ५)

'अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मामें नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभावकी प्रतीति ही अविद्या है।'

अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण दृश्य-पदार्थ अनित्य हैं, उनमें नित्यबुद्धि होना; यह देह मांस-मज्जादि अपवित्र वस्तुओंका संघात है, इसमें पवित्र बुद्धि होना; संसारके समस्त विषयभोग दुःखरूप हैं, उनमें

सुखबुद्धि होना और यह जड शरीर अनात्मा है, इसमें आत्मबुद्धि होना अविद्या है।

विषयभोगरूप इन्द्रियजन्य सुख आरम्भमें अमृतके समान प्रतीत होता है, किंतु परिणाममें वह विषके समान है। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

(१८।३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है वह पहले भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है, इसलिये वह सुख 'राजस' कहा गया है।'

अतएव कल्याणकामी पुरुषोंको विषयभोग-सुखसे दूर रहना चाहिये; क्योंकि सब अनर्थोंका मूल यही है। विषयभोगोंमें सुखबुद्धि होनेसे उनमें आसक्ति होती है और आसक्ति होनेसे ही विषय-भोगोंकी कामना होती है तथा कामनामें विघ्न डालनेवालेके प्रति द्वेष, वैर और क्रोध होता है। उस क्रोधसे मोह उत्पन्न होता है, जिससे बुद्धिका नाश होकर पतन हो जाता है (गीता २।६२-६३)। अतः राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदिकी उत्पत्ति और वृद्धिका कारण विषयोंमें सुख-बुद्धि है और वह सुख-बुद्धि है अज्ञानसे। इसलिये विवेक-विचारपूर्वक ज्ञानके द्वारा अज्ञानको दूर करना चाहिये। वह ज्ञान अन्तःकरणकी शुद्धि होनेसे प्राप्त होता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४।३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

ज्ञानकी प्राप्तिके और भी बहुत-से उपाय हैं। महापुरुषोंके सत्सङ्गसे भी ज्ञानकी प्राप्ति होती है (गीता ४। ३४-३५)। ईश्वर, धर्म, परलोक और शास्त्रमें श्रद्धा-विश्वाससे भी ज्ञानकी प्राप्ति होती है (गीता ४। ३९) और भगवान्‌की भक्ति करनेसे तो भगवान् स्वयं उसे ज्ञान देते ही हैं (गीता १०। ९-१०-११)। इन सभी साधनोंमें मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका संयम ही प्रधान है। बिना संयमके आत्माका कल्याण सम्भव नहीं। भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६। ३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है।'

इसलिये मनका संयम करनेके लिये संसारके विषयभोगोंको दुःखरूप और विनाशशील मानकर विवेक-वैराग्यद्वारा इनका त्याग करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं

और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

वैराग्यके बिना मन-इन्द्रियोंका संयम सम्भव नहीं। सम्पूर्ण विषयभोग विनाशशील और दुःखरूप हैं—इस विवेकसे वैराग्य उत्पन्न होता है तथा भजन और ध्यानके साधनसे भी वैराग्य होता है, इसलिये मनको वश करनेके लिये भगवान्‌ने अभ्यास और वैराग्यकी ही प्रधानता बतलायी है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६। ३५)

'हे महाबाहो! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है।'

अभ्यास और वैराग्यसे केवल मन वश ही होता हो, यही नहीं, मनका निरोध भी हो जाता है। महर्षि पतञ्जलिजीने कहा है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

(योग० १। १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है।' इससे जब मनका निरोध ही हो जाता है, तब उनसे इन्द्रियोंका निरोध हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। अतः इन्द्रियोंके निरोधका उपाय भी अभ्यास-वैराग्य ही है। इसमें बाधक हैं राग-द्वेष। राग-द्वेषको भगवान्‌ने साधकका शत्रु बतलाया है (गीता ३। ३४)। ये राग-द्वेष ही काम-क्रोधके रूपमें आकर दुराचार कराते हैं (गीता ३। ३७)। इन सबके नाशके लिये भगवान्‌ने गीतामें पहले इन्द्रियोंका संयम करने और फिर मनका संयम करके इन कामादि शत्रुओंको मार डालनेका आदेश दिया है—

'तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

(३ । ४१—४३)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल; क्योंकि इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं, इन इन्द्रियोंसे परे मन है, मनसे भी परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त परे है वह आत्मा है । इस प्रकार बुद्धिसे परे अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो ! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल ।'

इस प्रकार मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका संयम करके उन सबको सच्चिदानन्द परमात्मामें लगानेपर मनुष्यका परम कल्याण हो जाता है । भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

(५ । १७)

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् पुनः न आनेवाली परमगतिको प्राप्त होते हैं ।'

अतः मनुष्यको इसके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये ।

सत्यकी महिमा

एक सत्यवादी धर्मात्मा राजा थे। उनके नगरमें कोई भी साधारण मनुष्य बिक्री करनेके लिये बाजारमें अन्न, वस्त्र आदि कोई वस्तु लाता और वह वस्तु यदि सायंकालतक नहीं बिकती तो उसे राजा खरीद लिया करते थे। लोकहितके लिये राजाकी यह सत्य प्रतिज्ञा थी। अतः सायंकाल होते ही राजाके सेवक शहरमें भ्रमण करते और किसीको कोई वस्तु लिये बैठे देखते तो वे उससे पूछकर और उसके संतोषके अनुसार कीमत देकर उस वस्तुको खरीद लेते थे।

एक दिनकी बात है। स्वयं धर्मराज ब्राह्मणका वेष धारण करके घरकी टूटी-फूटी व्यर्थकी चीजें, जो बाहर फेंकने योग्य कूड़ा-करकट थीं, एक पेटीमें भरकर उन सत्यवादी धर्मात्मा राजाकी परीक्षा करनेके लिये उनके नगरमें आये और बिक्रीके लिये बाजारमें बैठ गये, किंतु कूड़ा-करकटको कौन लेता? जब सायंकाल हुआ, तब राजाके सेवक नगरमें सदाकी भाँति घूमने लगे। नगरमें बेचनेके लिये लोग जो वस्तुएँ लाये थे, वे सब बिक चुकी थीं। केवल ये ब्राह्मण अपनी पेटी लिये बैठे थे। राजसेवकोंने इनके पास जाकर पूछा—'क्या आपकी वस्तु नहीं बिकी?' उन्होंने उत्तर दिया—'नहीं।' राजसेवकने पुनः पूछा—'आप इस पेटीमें बेचनेके लिये क्या चीज लाये हैं? और उसका मूल्य क्या है?' ब्राह्मणने कहा—'इसमें दारिद्र्य (कूड़ा-करकट) भरा हुआ है। इसका मूल्य है एक हजार रुपये।' यह सुनकर राजसेवक हँसे और उन्होंने कहा—'इस कूड़ा-करकटको कौन लेगा, जिसका एक पैसा भी मूल्य नहीं है?'

ब्राह्मणने कहा—'यदि इसे कोई नहीं लेगा तो मैं इसे वापस अपने घर ले जाऊँगा, राजसेवकोंने तुरंत राजाके पास जाकर इसकी सूचना दी। इसपर राजाने कहा—'उन्हें वस्तु वापस न ले जाने दो। मूल्य जो कुछ कम-से-कम हो सके, उन्हें संतोष कराकर वस्तु खरीद लो।'

राजसेवकोंने आकर ब्राह्मणसे उस पेटीके दो सौ रुपये मूल्य कहा, किंतु ब्राह्मणने एक हजारसे एक पैसा भी कम लेना स्वीकार नहीं किया। राजसेवकोंने पाँच सौ रुपयेतक देना स्वीकार कर लिया, परंतु ब्राह्मणने इन्कार कर दिया। तब राजसेवकोंमेंसे कुछ व्यक्ति उत्तेजित होकर राजाके पास आये और बोले—'महाराज! उनकी पेटीमें दारिद्र्य (कूड़ा-करकट) भरा हुआ है, एक पैसेकी भी चीज नहीं है और पाँच सौ रुपये देनेपर भी वे नहीं दे रहे हैं। ऐसी परिस्थितिमें आपको उनकी वस्तु नहीं खरीदनी चाहिये।' राजाने कहा—'नहीं, हमारी सत्य प्रतिज्ञा है, हम सत्यका त्याग कभी नहीं करेंगे, इसलिये ब्राह्मणको, वे जो माँगें, देकर उस वस्तुको खरीद लो।' यह सुनकर राजसेवक राजाके इस आग्रहको देखकर हँसे और लौट आये। उन्होंने निरुपाय होकर ब्राह्मणको एक हजार रुपये दे दिये और उनकी पेटी ले ली। ब्राह्मण रुपये लेकर चले गये और राजसेवक पेटीको राजाके पास ले आये। राजाने उस दारिद्र्यसे भरी पेटीको राजमहलमें रखवा दिया।

रात्रिमें जब शयनका समय हुआ, तब राजमहलके द्वारसे वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित एक बहुत सुन्दर युवती निकली। राजा बाहर बैठकमें बैठे हुए थे। उस स्त्रीको देखकर राजाने पूछा—'आप कौन हैं? किस कार्यसे आयी हैं? और क्यों जा रही हैं?' उस स्त्रीने कहा—'मैं लक्ष्मी हूँ। आप सत्यवादी धर्मात्मा हैं, इस कारण मैं सदासे आपके घरमें निवास करती रही हूँ, पर अब तो आपके घरमें दारिद्र्य

आ गया है, जहाँ दारिद्र्य रहता है वहाँ लक्ष्मी नहीं रहती। इसलिये आज मैं आपके यहाँसे जा रही हूँ।' राजा बोले—'जैसी आपकी इच्छा।'

थोड़ी देर बाद राजाने एक बहुत ही सुन्दर युवा पुरुषको राजमहलके दरवाजेसे निकलते देखा तो उससे पूछा—'आप कौन हैं? कैसे आये हैं और कहाँ जा रहे हैं?' उस सुन्दर पुरुषने कहा—'मेरा नाम दान है। आप सत्यवादी धर्मात्मा हैं, इस कारण सदा मैं आपके यहाँ निवास करता रहा हूँ। अब जहाँ लक्ष्मी गयी है, वहीं मैं जा रहा हूँ; क्योंकि जब लक्ष्मी चली गयी, तब आप दान कहाँसे करेंगे?' तब राजा बोले—'बहुत अच्छा।'

उसके बाद फिर एक सुन्दर पुरुष निकलता दिखायी दिया। राजाने उससे भी पूछा—'आप कौन हैं? कैसे आये हैं और कहाँ जा रहे हैं?' उसने कहा—'मैं यज्ञ हूँ। आप सत्यवादी धर्मात्मा हैं, अतः आपके यहाँ मैं सदासे निवास करता रहा। अब आपके यहाँसे लक्ष्मी और दान चले गये तो मैं भी वहीं जा रहा हूँ; क्योंकि बिना सम्पत्तिके आप यज्ञका अनुष्ठान कैसे करेंगे?' राजा बोले—'बहुत अच्छा।'

तदनन्तर फिर एक युवा पुरुष दिखायी दिया। राजाने पूछा—'आप कौन हैं? कैसे आये और कहाँ जा रहे हैं?' उसने कहा—'मेरा नाम यश है। आप धर्मात्मा सत्यवादी हैं, अतः मैं आपके यहाँ सदासे रहता आया हूँ; किंतु आपके यहाँसे लक्ष्मी, दान, यज्ञ सब चले गये तो उनके बिना आपका यश कैसे रहेगा? इसलिये मैं भी वहीं जा रहा हूँ, जहाँ वे गये हैं।' राजाने कहा—'ठीक है।'

तत्पश्चात् एक सुन्दर पुरुष फिर निकला। उसे देखकर उससे भी राजाने पूछा—'आप कौन हैं, कैसे आये और कहाँ जा रहे हैं?' उसने

कहा—'मेरा नाम सत्य है। आप धर्मात्मा हैं, अतः मैं सदा आपके यहाँ रहता आया हूँ; किंतु अब आपके यहाँसे लक्ष्मी, दान, यज्ञ, यश—सब चले गये तो मैं भी वहीं जा रहा हूँ।' राजाने कहा—'मैंने तो आपके लिये ही इन सबका त्याग किया है, आपका तो मैंने कभी त्याग किया ही नहीं, इसलिये आप कैसे जा सकते हैं ? मैंने लोकोपकारके लिये यह सत्य प्रतिज्ञा कर रखी थी कि कोई भी व्यक्ति मेरे नगरमें बिक्री करनेके लिये कोई वस्तु लेकर आयेगा और सायंकालतक उसकी वह वस्तु नहीं बिकेगी तो मैं उसको खरीद लूँगा। आज एक ब्राह्मण दारिद्र्य लेकर बिक्री करने आये जो एक पैसेकी भी चीज नहीं; किंतु सत्यकी रक्षाके लिये ही मैंने विक्रेता ब्राह्मणको एक हजार रुपये देकर उस दारिद्र्य (कूड़ा-करकट) को खरीद लिया। तब लक्ष्मीने आकर कहा कि आपके घरमें दारिद्र्यका वास हो गया, इसलिये मैं नहीं रहूँगी। इसी कारण मेरे यहाँसे लक्ष्मी आदि सब चले गये। ऐसा होनेपर भी मैं आपके बलपर डटा हुआ हूँ।' यह सुनकर सत्यने कहा—'जब मेरे लिये ही आपने इन सबका त्याग किया है, तब मैं नहीं जाऊँगा।' ऐसा कहकर वह राजमहलमें वापस प्रवेश कर गया।

थोड़ी ही देर बाद 'यश' लौटकर राजाके पास आया। राजाने पूछा—'आप कौन हैं और क्यों आये हैं ?' उसने कहा—'मैं वही यश हूँ और आपमें सत्य विराजमान है। चाहे कोई कितना ही यज्ञकर्ता, दानी और लक्ष्मीवान् क्यों न हो, किंतु बिना सत्यके वास्तविक कीर्ति नहीं हो सकती। इसलिये जहाँ सत्य है, वहीं मैं रहूँगा।' राजा बोले—'बहुत अच्छा।'

तदनन्तर यज्ञ आया। राजाने उससे पूछा—'आप कौन हैं और किसलिये आये हैं ?' उसने कहा—'मैं वही यज्ञ हूँ, जहाँ सत्य रहता

है, वहीं मैं रहता हूँ, चाहे कोई कितना ही दानशील और लक्ष्मीवान् क्यों न हो, किंतु बिना सत्यके यज्ञ शोभा नहीं देता। आपमें सत्य है, अतः मैं यहीं रहूँगा।' राजा बोले—'बहुत अच्छा।'

तत्पश्चात् दान आया। राजाने उससे भी पूछा—'आप कौन हैं और कैसे आये हैं?' उसने कहा—'मैं वही दान हूँ। आपमें सत्य विराजमान है और जहाँ सत्य रहता है वहीं मैं रहता हूँ; क्योंकि कोई कितना ही लक्ष्मीवान् क्यों न हो, बिना सद्भावके दान नहीं दे सकता। आपके यहाँ सत्य है, इसलिये मैं यहीं रहूँगा।' राजा बोले—'बहुत अच्छा।'

इसके अनन्तर लक्ष्मी आयी। राजाने पूछा—'आप कौन हैं और क्यों आयी हैं?' उसने कहा—'मैं वही लक्ष्मी हूँ। आपके यहाँ सत्य विराजमान है। आपके यहाँ यश, यज्ञ, दान भी लौट आये हैं। इसलिये मैं भी लौट आयी हूँ।' राजा बोले—'देवि! यहाँ तो दारिद्र्य भरा हुआ है, आप कैसे निवास करेंगी?' लक्ष्मीने कहा—'राजन्! जो कुछ भी हो, मैं सत्यको छोड़कर नहीं रह सकती।' राजा बोले—'जैसी आपकी इच्छा।'

तदनन्तर वहाँ स्वयं धर्मराज उसी ब्राह्मणके रूपमें आये। राजाने पूछा—'आप कौन हैं और कैसे आये हैं?' धर्मराज बोले—'मैं साक्षात् धर्म हूँ, मैं ही ब्राह्मणका रूप धारण करके एक हजार रुपयेमें आपको दारिद्र्य दे गया था। आपने सत्यके बलसे मुझ धर्मको जीत लिया। मैं आपको वर देनेके लिये आया हूँ, बतलाइये, मैं आपका कौन-सा अभीष्ट कार्य करूँ?' राजाने कहा—'आपकी कृपा है। मुझको कुछ भी नहीं चाहिये। आप जिस प्रकार सदा करते आये हैं, उसी प्रकार करते रहिये।'

इस दृष्टान्तसे यह सिद्ध हो गया कि जहाँ सत्य है, वहाँ सब कुछ है। वहाँ कभी सम्पत्ति, दान, यज्ञ, यशकी कमी भी हो जाय तो मनुष्यको घबराना नहीं चाहिये। यदि सत्य कायम रहेगा तो ये सभी आप ही लौट आयेंगे और ये न आयें तो भी कोई हानि नहीं, उसका परम कल्याण है। अतः कल्याणकामी पुरुषको सत्यका कभी त्याग नहीं करना चाहिये, बल्कि निष्कामभावसे उसका अवश्य दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिये।

सत्य—यथार्थ भाषण, सद्गुण और सदाचारका नाम ही सत्य है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

(१७। २६-२७)

'सत्—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्यभाव (परमात्माके अस्तित्व) में और श्रेष्ठभाव (सद्गुण) में प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ! उत्तम कर्म (सदाचार) में भी सत् शब्दका प्रयोग किया जाता है तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति (निष्ठा) है वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ (भगवदर्थ) कर्म तो निश्चय ही 'सत्' ऐसे कहा जाता है।'

किसी कविकी यह उक्ति प्रसिद्ध है—

बंदा सत नहिं छाँड़िये सत छाँड़े पत जाय।
सतकी बाँधी लच्छमी फेरि मिलैगी आय॥

प्रारब्ध और पुरुषार्थका रहस्य

कितने ही मनुष्य प्रारब्ध—भाग्यको प्रधान बताते हैं और कितने ही पुरुषार्थको। इस विषयमें हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। वास्तवमें अपने-अपने स्थानमें ये दोनों ही प्रधान हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारोंको पुरुषार्थ कहते हैं। इनमें धर्म, अर्थ, काम तो 'पुरुषार्थ' हैं और मोक्ष 'परम पुरुषार्थ' है। इन चारोंमेंसे धर्म और मोक्षके साधनमें पुरुषार्थ ही प्रधान है। इन दोनोंको जो मनुष्य प्रारब्धपर छोड़ देता है, वह इनके लाभसे वञ्चित रह जाता है; क्योंकि धर्म और मोक्षका साधन प्रयत्नसाध्य है, अपने-आप सिद्ध होनेवाला नहीं है, किंतु अर्थ और कामकी सिद्धिमें प्रारब्ध प्रधान है, प्रयत्न तो उसमें निमित्तमात्र है।

प्रायः सभी मनुष्य अर्थके लिये महान् प्रयत्न करते हैं और उसके लिये पाप करनेमें भी नहीं हिचकते। फिर भी वे मनचाहा धन नहीं प्राप्त कर सकते; क्योंकि प्रारब्धके बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती। इसी तरह जिनके पुत्र नहीं, वे पुत्रके लिये बहुत प्रयत्न करते हैं; किंतु सभीको पुत्र-लाभ नहीं होता, क्योंकि उसमें भाग्य प्रधान है।

ऊपर बतलाया गया कि मुक्ति और धर्मके पालनमें पुरुषार्थ प्रधान है। अब यह प्रश्न होता है कि पूर्वकृत कर्म यानी प्रारब्ध और संचित भी इनमें सहायक हैं या नहीं? इसका उत्तर यह है कि इनसे सहायता तो प्राप्त होती है, किंतु इनकी प्रधानता नहीं है। पूर्वमें निष्काम भावसे किये हुए कर्म और उपासनाके फलस्वरूप मनुष्यको संत-महात्माओंका सङ्ग प्राप्त होता है, किंतु उनके मिलनेपर उनके बताये साधनको सुनकर

उसके अनुसार मनुष्य प्रयत्न करता है तो उसका कल्याण हो जाता है, केवल सुननेमात्रसे नहीं। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(१३।२५)

'परंतु इनसे दूसरे जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार ध्यानयोग, ज्ञानयोग और कर्मयोगको न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणके अनुसार साधन करनेवाले पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं।'

अतः पूर्वकृत कर्म यानी संचित और प्रारब्धके संस्कार अच्छे होते हैं तो वे साधकके मोक्ष-साधनमें शामिल हो जाते हैं अर्थात् जिस साधकका आठ आना साधन किया हुआ होता है उसे आठ आना ही साधन और करना पड़ता है, किंतु संचित और प्रारब्धमें भी संचितकी प्रधानता है; क्योंकि प्रारब्ध तो अपना फल देकर शान्त हो जाता है, पर निष्कामभावसे किये हुए संचित कर्म और उपासनारूप साधनका विनाश नहीं होता। वे क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होकर मुक्ति ही प्रदान करते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

(गीता २।४० का पूर्वार्ध)

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है।'

प्रायः सभी मनुष्य अर्थ और भोगकी कामना करते हैं; किंतु तीव्र कामना करनेपर भी उनकी सिद्धि नहीं होती। किंतु धर्मके पालन और

ईश्वरकी प्राप्तिके लिये की हुई तीव्र इच्छासे ही कार्यकी सिद्धि हो जाती है। जो मनुष्य धर्मपालनकी तीव्र इच्छा करके विशेष प्रयत्न करता है, उस प्रयत्नसे धर्मका पालन हो जाता है। अतः कर्तव्यपालनरूप धर्ममें प्रयत्न ही प्रधान है। इसी प्रकार ईश्वरप्राप्तिकी तीव्र इच्छा करनेसे उस उत्कट इच्छाके बलसे प्रेमपूर्वक किया हुआ प्रयत्न शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्तिरूप परम पुरुषार्थको सिद्ध कर देता है।

संसारमें किसी भी प्राणी, पदार्थ, घटना और मृत्युकी प्राप्ति इच्छापर निर्भर नहीं है। कोई मरनेकी इच्छा करे तो इच्छा करनेसे मर नहीं सकता और जीनेकी इच्छा करे तो जी नहीं सकता। इसी तरह अर्थ और कामभोगरूप पदार्थ, प्राणी एवं अनुकूल घटनाएँ इच्छा करनेसे प्राप्त नहीं होतीं, चाहे मनुष्य उनके लिये कितनी ही उत्कट इच्छा क्यों न करे; क्योंकि ये इच्छापर निर्भर नहीं हैं। किंतु परमात्माकी प्राप्तिरूप मुक्तिके लिये की हुई तीव्र इच्छा अवश्य सफल हो जाती है। तीव्र इच्छा होनेसे उसका साधन श्रद्धा, प्रेम और आदरपूर्वक एवं तीव्र हो जाता है, जिससे कार्यकी सिद्धि हो जाती है। दूसरी बात यह भी है कि जड पदार्थ तो जड होनेके कारण उनकी इच्छा करनेवालेको नहीं चाहते, पर भगवान्‌को तो जो चाहता है, उसे भगवान् चाहते हैं, (गीता ४। ११)।

अब यह विचार करना है कि भाग्य क्या है और प्रयत्न क्या है? सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि जो सब पूर्वमें किये हुए कर्मोंके फल हैं, इन्हींको भाग्य या प्रारब्ध कहते हैं। इस प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है—अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छासे। दैवेच्छासे कोई रोग हो जाना, मृत्यु हो जाना, किसी खरीदे हुए पदार्थका मूल्य घट जाना, पदार्थका क्षय या विनाश हो जाना—यह सब पूर्वकृत

पापकर्मका फल है। इसके विपरीत दैवेच्छासे धन आदिकी प्राप्ति होना पुण्यकर्मका फल है। यह सभी अनिच्छा-प्रारब्धभोग है।

किसी डाकू या चोरने हमारा धन लूट लिया या चुरा लिया अथवा धनके लिये हमको मार डाला या किसीने द्वेषबुद्धिसे मार डाला या किसी पशु-पक्षीने हमें चोट पहुँचा दी या साँपने डस लिया तो यह हमारे पूर्वकृत पापोंका दुःखरूप फलभोग परेच्छासे हुआ। इसी प्रकार किसी दूसरेकी इच्छासे हमें धन, जमीन, स्त्री, पुत्र आदिकी प्राप्ति हो गयी अथवा किसीने हमें दत्तक पुत्र बनाकर सर्वस्व दे दिया तो यह हमारे पूर्वकृत पुण्यकर्मोंका सुखरूप फलभोग परेच्छासे हुआ।

हमें वर्तमानमें अपनी इच्छासे किये हुए विषयोंके उपभोगसे सुख मिला या व्यापार करनेसे मुनाफा हो गया, तो यह पूर्वकृत पुण्यकर्मका फलभोग स्वेच्छापूर्वक हुआ। इसके विपरीत जो स्वेच्छासे किये हुए प्रयत्नके फलस्वरूप हमें दुःख, धनहानि, पराजय आदि प्राप्त होते हैं, यह हमारे पूर्वमें किये हुए पापकर्मका स्वेच्छापूर्वक फलभोग है।

इन सभी फलभोगोंको प्रारब्ध (भाग्य) कहते हैं।

विचारपूर्वक किये जानेवाले क्रियमाण कर्मका नाम 'प्रयत्न' है। उसके तीन भेद हैं—शुभकर्म, अशुभकर्म और शुभाशुभ-मिश्रित कर्म। शुभकर्मका फल सुख, अशुभका फल दुःख और शुभाशुभ-मिश्रितका फल सुख-दुःख दोनोंसे मिला हुआ होता है—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥

(गीता १८। १२)

'कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—इस प्रकार तीन तरहका फल मरनेके पश्चात् अवश्य

होता है, किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता।'

किसी कर्मको मनुष्य सकामभावसे करता है तो उसका इस लोकमें स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थोंकी प्राप्ति और परलोकमें स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप फल होता है तथा निष्कामभावसे किये हुए थोड़े-से भी कर्तव्यपालनका फल परमात्माकी प्राप्तिरूप मुक्ति है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २। ४० का उत्तरार्ध)

'इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।'

मनुष्य कर्म करनेमें अधिकांश स्वतन्त्र है; पर फलभोगमें सर्वथा परतन्त्र है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २। ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं; इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

अतएव मनुष्यको उचित है कि निष्कामभावसे अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करे। जो किये हुए कर्मोंका फल न चाहकर कर्तव्य-कर्म करता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे परमात्माकी प्राप्तिरूप मुक्ति मिल जाती है।

परम दयालु परम प्रेमी ईश्वरकी भक्ति—शरणागतिमें भी प्रारब्ध प्रधान नहीं है, पुरुषार्थ ही प्रधान है। ईश्वरकी प्राप्ति होती है—श्रद्धा-

प्रेमपूर्वक ईश्वरके शरण होनेसे। श्रद्धा-प्रेमपूर्वक ईश्वरके शरण होनेसे मनुष्य ईश्वरके तत्त्व-रहस्यको जान जाता है। ईश्वर परम दयालु हैं और उनकी सभीपर अपार दया है—इस रहस्यको न जाननेके कारण ही मनुष्य ईश्वरकी प्राप्तिसे वञ्चित रहता है। ईश्वरकी परम कृपा होते हुए भी श्रद्धा-विश्वासकी कमीके कारण जो अपने ऊपर ईश्वरकी दया पूर्णतया नहीं समझता है, वह ईश्वरकी दयाके रहस्यको नहीं जानता और उनकी दयासे होनेवाले परम लाभसे वञ्चित रहता है।

यदि कहें कि ईश्वरकी प्राप्ति ईश्वरकी दयासे होती है या अपने प्रयत्नसे तो इसका उत्तर यह है कि मनुष्य अपने ऊपर ईश्वरकी अतिशय दया मान लेता है तो उसका साधन उच्चकोटिका होने लगता है। उच्चकोटिका साधन होनेसे अन्तःकरण शुद्ध होकर वह ईश्वरकी परम दया और प्रेमके तत्त्वको जान जाता है, तब उसे ईश्वरकी प्राप्ति हो जाती है। हेतुरहित परम दया और परम प्रेमका नाम ही सुहृदता है। जिसमें इस प्रकारकी सुहृदता हो, वही सुहृद् है। उन ईश्वरको सुहृद् जाननेसे ईश्वरकी प्राप्तिरूप परम शान्ति मिल जाती है।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

(गीता ५। २९ का उत्तरार्ध)

'मेरा भक्त मुझको सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी—ऐसा तत्त्वसे जानकर ईश्वरकी प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त होता है।'

किंतु कोई मनुष्य ईश्वरकी प्राप्तिको भाग्यपर छोड़ देता है तो वह ईश्वरकी प्राप्तिसे वञ्चित रहता है; क्योंकि आजतक किसीको ईश्वरकी प्राप्ति अपने-आप भाग्यके भरोसे नहीं हुई। ईश्वरकी प्राप्तिरूप मुक्ति सबकी अपने-आप होती तो आजतक सबकी मुक्ति हो जाती। यदि

कहें कि ईश्वरकी प्राप्ति तो ईश्वरकी कृपासे होती है सो ठीक है, किंतु जो अपने ऊपर ईश्वरकी कृपा मानता है उसको ही उनकी कृपाका पूर्ण लाभ मिलता है। मनुष्य अपने ऊपर सदा विद्यमान ईश्वर-कृपाको माने बिना उस कृपाके लाभसे वञ्चित रहता है। जैसे किसी गृहस्थके घरमें पारसमणि मौजूद है, किंतु उस गृहस्थने उसे पत्थर समझ रखा है तो वह उस पारससे होनेवाले लाभसे वञ्चित रहता है। यदि वह पारसको पारस जानकर उससे लोहेका स्पर्श करा देता है तो वह उसके लाभको प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार ईश्वरकी परम दया प्राणिमात्रपर है; किंतु पूर्णतया न माननेसे लोग उस परम लाभसे वञ्चित रहते हैं।

इसी प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका यथार्थ ज्ञान भी प्रारब्धसे स्वतः नहीं होता। यदि प्रारब्धसे स्वतः ही ज्ञान होता तो सबको ही हो जाता। जो मनुष्य प्रारब्धपर यों निर्भर रहता है कि प्रारब्धसे अपने-आप ज्ञान हो जायगा, वह ज्ञानकी प्राप्तिसे वञ्चित ही रहता है; क्योंकि प्रारब्धसे स्वतः ही ज्ञान न तो किसीको भी आजतक हुआ है और न हो ही सकता है। परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति तो होती है अन्तःकरणकी शुद्धिसे। अन्तःकरणकी शुद्धि होती है निष्काम कर्म करनेसे और निष्काम कर्मकी सिद्धि प्रयत्नसे होती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४।३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

ज्ञानकी प्राप्तिका दूसरा उपाय है—प्रेमपूर्वक भक्तिका साधन। भगवान्‌ने बतलाया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०।९—११)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभाव और तत्त्वको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

यह ईश्वरकी भक्ति प्रयत्नसाध्य है, यह ऊपर बतलाया ही जा चुका है। जो मनुष्य अपने ऊपर ईश्वरकी दया मानकर उनके शरण हो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक ईश्वरकी अनन्य भक्ति करता है, वह ईश्वरकी कृपासे ईश्वरकी प्राप्तिरूप परमपदको प्राप्त हो जाता है।

ज्ञानकी प्राप्तिका तीसरा उपाय है—तत्त्वदर्शी ज्ञानी महात्मा पुरुषोंका सङ्ग और सेवा करना। ऐसा करनेसे भी परमपदरूप मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। गीतामें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(४।३४-३५)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे, जिसको जानकर तू फिर इस प्रकार मोहको प्राप्त नहीं होगा तथा हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

ज्ञानकी प्राप्तिके जो साधन हैं उनको भी भगवान्‌ने गीता अध्याय १३ श्लोक ७ से ११ तक 'ज्ञान' के ही नामसे कहा है। उन ज्ञानके साधनोंसे भी ज्ञानकी प्राप्ति होकर मनुष्यका कल्याण हो जाता है। वे सभी साधन प्रयत्नसाध्य हैं, भाग्यसे सिद्ध होनेवाले नहीं।

इसी प्रकार भगवान्‌ने गीतामें अध्याय १८ श्लोक ५० से ५५ तक जो ज्ञानकी परानिष्ठाकी प्राप्तिके लिये साधन बतलाये हैं, वे भी प्रयत्नसाध्य हैं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानकी प्राप्तिमें भी प्रारब्धकी प्रधानता नहीं है, बल्कि प्रयत्नकी ही प्रधानता है।

सदाचाररूप धर्मकी सिद्धि भी प्रयत्नसे ही होती है, प्रारब्धसे नहीं। महर्षि मनुने धर्मके चार ही लक्षण बतलाये हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनु० २।१२)

'वेद, स्मृति सदाचार और अपनी रुचिके अनुसार परिणाममें हितकर—यह चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण है।'

तथा सामान्यधर्मका स्वरूप-वर्णन करते हुए मनुजीने कहा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

(मनु० ६ । ९२)

'धैर्य रखना, क्षमा करना, मनको वशमें रखना, चोरी न करना, बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, सात्त्विक बुद्धि, सात्त्विक ज्ञान, सत्य वचन बोलना और क्रोध न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।'

एवं वर्णों और आश्रमोंके विशेष धर्म भी विस्तारपूर्वक मनुजीने मनुस्मृतिके तीसरेसे छठे अध्यायतक बतलाये हैं। ये सभी प्रयत्नसाध्य हैं। बिना प्रयत्नके अपने-आप भाग्यसे इनमेंसे किसी भी क्रियाकी सिद्धि नहीं हो सकती।

इसलिये यही सिद्ध हुआ कि अर्थ और कामकी प्राप्तिमें तो प्रारब्धकी प्रधानता है तथा धर्म और मोक्षकी प्राप्तिमें प्रयत्नकी प्रधानता है।

अपने उत्थानके प्रयत्नकी परम आवश्यकता

मनुष्यको उचित है कि अपने जीवनको सफल बनानेके लिये अपना उत्थान करे—अपने-आपकी उन्नति करे और अपने-आपको पतनसे बचाये। संसारमें अनेक मत और अनेक शास्त्र हैं। ऋषि-मुनि, महात्मा, संत, फकीर, मौलवी, पादरी आदि सभी अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार मनुष्यके उत्थानके भिन्न-भिन्न साधन बतलाते हैं और अपनी-अपनी दृष्टिसे उन सबका कथन ठीक हो सकता है। अतः उन सबका सम्मान करते हुए मनुष्यको कम-से-कम अपनी बुद्धि और

समझका तो अवश्य ही आदर करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि भक्ति, ज्ञान, वैराग्यके नशेमें चूर होकर सम्पूर्ण गुण, क्रिया, पदार्थ, परिस्थिति और प्राणियोंमें समभाव रखते हुए अपनी विवेकशील बुद्धिमें निरपेक्ष भावसे जो सर्वोत्तम गुण, भाव और क्रिया मालूम दें, उनको उत्तरोत्तर अपने जीवनमें परिणत करनेके लिये तो तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी ही चाहिये। जिसको आप विचारके द्वारा निर्भ्रान्तरूपसे सिद्धान्त निश्चय कर चुके हैं, उसका सम्पादन करना ही अपनेको उन्नत करना है। भाव यह कि आपने अच्छे पुरुषोंसे जो सुना है और जो शास्त्रोंमें पढ़ा है तथा जो सोच-समझकर विवेकपूर्वक मनन करके निश्चय किया है, उसके अनुसार अपना जीवन बनाना ही अपनी उन्नति करना है। अतः गत वर्षसे इस वर्ष, गत माससे इस मास और गत कलसे आज उत्तरोत्तर अधिक उन्नति करना एवं इसी प्रकार आज भी प्रतिक्षण अपने जीवनको उन्नत बनाना ही अपने द्वारा अपना उद्धार करना है और इसके विपरीत करना ही अपने द्वारा अपने-आपका पतन करना है। जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे अपनी उन्नति स्वयं करता है, वह स्वयं ही अपने-आपका मित्र है और जो इससे विपरीत करता है, वह स्वयं ही अपने-आपका शत्रु है। भगवान्‌ने भी गीतामें बतलाया है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(६।५)

'अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

प्राणिमात्रको तन, मन, धन, जनद्वारा अपनी शक्तिके अनुसार सुख

पहुँचाना—यह परम धर्म है और इसके विपरीत किसीको दुःख पहुँचाना पाप है। इस बातको सभी लोग एकमतसे स्वीकार करते हैं, चाहे वे किसी भी सिद्धान्तको माननेवाले क्यों न हों।

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४०। १)

इसलिये देवता, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग—कोई भी प्राणी क्यों न हो, सबके हितमें रत रहना ही परम धर्म है। इसीमें मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है। सबके हितमें ही हमारा परम हित भरा हुआ है। मनुष्यमात्रका हित करना तो सभी विवेकशील मनुष्य मानते हैं, यह मानना भी अच्छा है; परंतु ऋषि-मुनियों तथा गीतादि शास्त्रोंने तो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहनेमें ही अपना परम हित बतलाया है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२। ४ का उत्तरार्ध)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत रहनेवाले पुरुष मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इस लोक और परलोकमें सबका परम हित हो—इस भावका नाम ही उत्तम श्रेणीकी दया है। जिस धर्ममें दया नहीं है, वह धर्म वास्तवमें धर्म ही नहीं है। अतः ऐसे धर्मका त्याग करना चाहिये। हमारे ऋषियोंका सिद्धान्त है—

'दयाहीनं धर्मं त्यजेत्।'

मनके द्वारा सब प्रकारसे दूसरोंके हितकी इच्छा रखना; वाणीके द्वारा सत्य, प्रिय और दूसरोंके हितकी बात कहना, शरीरके द्वारा दूसरोंको सुख पहुँचाना, धन और पदार्थको दूसरोंके हितमें लगाना एवं अपनी बात माननेवालोंको दूसरोंकी सेवामें लगाना—यह मन, वचन,

तन, धन, जन आदिके द्वारा दूसरोंकी सेवा करना है। इस प्रकारकी सेवा यदि मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, अहंकार और स्वार्थसे रहित होकर कर्तव्य समझकर प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे की जाय तो मनुष्यका शीघ्र ही कल्याण हो सकता है। यही सेवा यदि कोई सकामभावसे करे तो उसकी कामनाकी सिद्धि हो सकती है; किंतु सकामभावसे सेवा करना निम्न श्रेणीका कार्य है।

हमलोगोंको सावधान होना चाहिये। हमसे अधिक आयुवाले, समान आयुवाले और कम आयुवाले भी प्राण त्यागकर जा रहे हैं। हमलोग यह भी देखते हैं कि कल जिसके कोई बीमारी नहीं थी, उसके आज ही कोई बीमारी होकर तुरंत मृत्यु हो जाती है अथवा बीमारीके बिना भी, अन्य कोई निमित्त अकस्मात् होकर मृत्यु हो जाती है। मृत्यु होनेपर उसके साथ उसका शरीर भी नहीं जाता, फिर धन-जन आदिकी तो बात ही क्या है। यह देखकर भी हमलोगोंको अपनी मृत्यु निकट नहीं दीखती और संसार तथा शरीरसे वैराग्य नहीं होता—यह कितने आश्चर्यकी बात है। महाभारत, वनपर्वमें यक्षके प्रश्नके उत्तरमें महाराज युधिष्ठिरने कहा है—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

(३१३। १०१)

'संसारमें रोज-रोज प्राणी यमलोक जा रहे हैं; किंतु जो बचे हुए हैं, वे सर्वदा जीते रहनेकी इच्छा करते हैं, इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा?'

मरनेपर कोई भी पदार्थ हमारे साथ नहीं जा सकते और क्षणभरमें कब मृत्यु हो जायगी—इसका कोई पता नहीं एवं एक क्षण

भी अधिक जीना अपने अधिकारकी बात नहीं है—ऐसा समझकर जिसको हम बुरा काम (पाप) समझते हैं उसको काम, क्रोध, लोभ या भयके वशमें होकर कभी नहीं करना चाहिये।

धनके लोभमें पड़कर सरकारके, किसी संस्थाके या किसी दूसरे व्यक्तिके धनको झूठ, कपट, चोरी, दगाबाजी, विश्वासघातसे हरण करनेपर मनमें भय, ग्लानि, चिन्ता, शोक आदि होते हैं और प्रत्यक्ष पतन हो जाता है; इसे सभी लोग मानते हैं। इसलिये मनुष्यको उचित है कि चाहे कितनी ही आपत्ति क्यों न आये, पर थोड़े-से जीनेके लिये लोभके वशमें होकर इस प्रकारका पतनकारक कार्य कभी न करे; क्योंकि कर्तव्य-पालनरूप धर्म नित्य है और यह जीवन क्षणिक और अनित्य है। महाभारतमें बतलाया गया है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गारोहण० ५। ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवन-रक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका कारण अनित्य है।'

इस प्रकार संसार और शरीरकी क्षणभङ्गुरता और नश्वरताको प्रत्यक्ष देखते हुए भी यदि हमलोग विवेकपूर्वक शिक्षा ग्रहण न करें तो फिर पशुओंमें और हमलोगोंमें अन्तर ही क्या रहा? खाने, पीने, सोने और भोग-विलास करनेमें समय बिताना तो पशुपन है।

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥

(चाणक्यनीति १७। १७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें एक समान ही हैं। मनुष्योंमें केवल विशेषता यही है कि उनमें अपने कर्तव्यका ज्ञान अधिक है; किंतु ज्ञानसे शून्य मनुष्य पशुओंके ही तुल्य है।'

ब्रह्मचर्यका पालन मनुष्यमात्रके लिये इस लोक और परलोकमें परम हितकर है। इससे बल, बुद्धि, तेज, वीर्य, आयु, ओज और कीर्तिकी वृद्धि होती है तथा इसके विपरीत, ब्रह्मचर्यके ह्राससे प्रत्यक्ष परम हानि है, चाहे अपनी स्त्रीके साथ ही सहवास क्यों न हो।पर-स्त्रीके साथ सहवास करनेपर तो बल, बुद्धि, तेज, वीर्य, आयु और कीर्तिकी हानि तथा मरनेपर उसकी घोर दुर्गति भी होती है। इसे मनुष्यमात्र प्रायः सभी मतावलम्बी मानते हैं। यह समझकर भी यदि हमलोग इस प्रकारके पतनसे न बचें तो हमारी मूर्खताकी हद है।

अतः पुरुषको उचित है कि पर-स्त्रीके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तनको महान् हानिकर समझकर उससे स्वप्नमें भी सम्बन्ध न करे। विशेष आवश्यकता पड़नेपर उसके साथ उसे माता-बहिनके समान समझते हुए नीची दृष्टि रखकर उचित और पवित्र वार्तालाप किया जा सकता है। इसी प्रकार स्त्रियोंको उचित है कि वे अपने पतिके सिवा अन्य पुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनको महान् हानिकर समझकर उनसे सदा दूर रहें। विशेष आवश्यकता पड़नेपर पिता-भाईके समान समझते हुए नीची दृष्टि रखकर उचित और पवित्र वार्तालाप कर सकती हैं।

मनुष्यमात्रको उचित है कि कामोद्दीपन करनेवाले इत्र, तेल, फुलेल, चन्दन, पुष्पमाला आदि पदार्थोंका भी सेवन न करे और किसी भी स्त्री-पुरुष या युवा बालक-बालिकाके साथ परस्पर अश्लील बातें भी न करे तथा कामोद्दीपक खेल-तमाशे, नाटक-सिनेमा-बायस्कोप आदिसे भी परहेज रखे।

जिस कार्यको करनेमें न तो परिश्रम होता है, न पैसे खर्च होते हैं, न कोई कठिनाई है और जिसके लाभकी कोई सीमा नहीं एवं जिसे हिंदू-मुसलमान-ईसाई आदि सभी मनुष्य मानते हैं, ऐसे कार्यमें अपना समय न लगाना महान् मूर्खता है। वह सबसे बढ़कर कार्य है—परमात्माको हर समय याद रखना। ईश्वर, भगवान्, नारायण, अल्लाह, खुदा, गॉड, ॐ, परमात्मा आदि सब परमात्माके ही नाम हैं। जिसका जो इष्टदेव हो, जिसकी जिस नाममें और व्यक्त-अव्यक्त जिस रूपमें श्रद्धा-विश्वास और रुचि हो, उसी नाम और स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करनेमें न कोई पैसे खर्च होते हैं, न कोई कठिनाई है और न कोई परिश्रम होता है, बल्कि श्रद्धा-प्रेमपूर्वक किये जानेपर प्रत्यक्ष अद्भुत प्रसन्नता और परम शान्ति मिलती है। गीतादि शास्त्रोंमें तो यहाँतक बताया है कि अन्तकालमें भी परमात्माका स्मरण करते हुए मृत्यु हो जाय तो उसका कल्याण हो जाता है और जैसा जीवनकालमें अभ्यास किया जाता है वैसा ही चिन्तन अन्तकालमें स्वाभाविक ही होता है। भगवान्‌ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ५-६)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। (इसका कारण यह है कि) हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

अतः मनुष्यजन्मको सार्थक करनेके लिये हमलोगोंको हर समय भगवान्‌को याद रखना चाहिये। इसके लिये रात्रिमें सोनेके समय नाम-गुण-प्रभावसहित भगवान्‌को याद करते हुए शयन करना चाहिये। इससे स्वप्न भी अच्छे आनेकी आशा है; क्योंकि जैसा हमलोग दिनमें अभ्यास करते हैं और जैसा शयनकालमें हमलोगोंके चित्तका प्रवाह रहता है वैसा ही हम स्वप्न देखते हैं।

इसी प्रकार व्यवहारकालमें भी भगवान्‌को याद रखते हुए ही व्यवहार करना चाहिये। गीतामें बतलाया गया है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(८।७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८।१४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर

मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

एकान्तके साधनकालमें इन्द्रियों और मनका संयम करके श्रद्धाभक्तिपूर्वक भगवान्‌में मन लगाकर उन्हींका निरन्तर चिन्तन करना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥

(६।१०)

'मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित होकर आत्माको निरन्तर परमात्मामें लगावे।'

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

(गीता ६।१४)

'ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित और भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे।'

अतएव अपने आत्माके उत्थानके लिये मनुष्यको शयनकाल, व्यवहारकाल और एकान्तकाल सभी समय भगवान्‌के नाम-रूपका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर स्मरण करना चाहिये।

साधन तेज न होनेमें अश्रद्धा ही प्रधान कारण है

कितने ही साधक यह प्रश्न किया करते हैं कि 'हमारा साधन पहलेकी अपेक्षा शिथिल प्रतीत होता है; इसमें ईश्वर-कृपाकी कमी कारण है या प्रारब्ध कारण है अथवा वर्तमानका दूषित वातावरण और कुसङ्ग कारण है या श्रद्धाकी कमी कारण है अथवा अन्य ही कोई कारण है ?'

इसका उत्तर यह है कि ईश्वरकी कृपा तो सबपर पूर्ण रही है और है तथा रहेगी। हमलोग अपने ऊपर ईश्वरकी जितनी कृपा मानते हैं, उससे कहीं अधिक है। किंतु मनुष्य ईश्वरकी कृपा अपने ऊपर जितनी मानता है, उतना ही उसे लाभ होता है। इसलिये ईश्वरकी अपने ऊपर पूर्ण कृपा मानकर साधनविषयक विशेष लाभ उठाना चाहिये।

प्रारब्ध साधनमें बाधक नहीं है। जब मनुष्यपर कोई आपत्ति आती है या उसके कोई रोग हो जाता है, तब वह श्रद्धाकी कमी और आत्मबलकी कमीके कारण ही उस सांसारिक आपत्ति या रोगका बहाना लेकर प्रारब्धपर दोष देने लगता है।

साधकको भगवान्‌की दयाके बलपर वर्तमानके दूषित वातावरणसे भी नहीं डरना चाहिये, किंतु उसके सङ्गसे दूर रहना चाहिये; क्योंकि श्रद्धाहीन, संशयात्मा, नास्तिक, दुराचारी, दुर्व्यसनी और दुर्गुणी दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग बहुत हानिकारक और आत्माका पतन करनेवाला है। साधकके लिये जिस प्रकार महापुरुषोंका सङ्ग बहुत लाभदायक है, उसी प्रकार अश्रद्धालु नास्तिक पुरुषोंका सङ्ग बहुत ही

घातक है। अतः साधकको ऐसे पुरुषोंके सङ्गसे सदा ही दूर रहना चाहिये। यदि परिस्थितिवश उनका सङ्ग हो जाय तो उनके दोषोंसे सावधान रहना चाहिये। जैसे अपनी स्त्री, पुत्र या प्रेमीके हैजा, प्लेग, कुष्ठ या टी० बी० आदि कोई प्राणनाशक संक्रामक रोग हो जाता है तो बुद्धिमान् मनुष्य उसके इलाजके लिये दवा, पथ्य और वैद्यकी सलाह आदिकी चेष्टा करते हुए भी उस रोगसे स्वयं सावधान रहते हैं, वैसे ही जिसमें उपर्युक्त दोष हों, उससे घृणा-द्वेष न करके, उसमें जो दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन आदि भयंकर संक्रामक रोग हैं, उनसे सावधान रहना चाहिये।

साधन कमजोर होनेमें वस्तुतः श्रद्धा और विश्वासकी कमी ही प्रधान कारण है; अतः साधनकी उन्नतिके लिये सबसे बढ़कर उपाय श्रद्धा ही है। भक्तिपूर्वक विश्वास होना ही श्रद्धा है। (१) ईश्वर, (२) महापुरुष, (३) भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-सदाचारके प्रतिपादक श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि धार्मिक सत्-शास्त्र और (४) परलोक— ये चार श्रद्धा करनेके योग्य हैं। यदि उपर्युक्त सत्-शास्त्रोंके वचन कहीं समझमें न आयें या कहीं उनके सम्बन्धमें अपने आत्मामें शङ्का उत्पन्न हो जाय तो महापुरुषोंके आचरणोंको लक्ष्य बनाकर उनके अनुसार आचरण करना चाहिये। महाभारतमें यक्षके प्रश्नोंका उत्तर देते समय महाराज युधिष्ठिरने बतलाया है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(वन० ३१३। ११७)

'तर्ककी कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं; एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा हुआ—अत्यन्त गूढ़ है, अतः जिस मार्गसे महापुरुष गये हैं, वही मार्ग असली मार्ग है।'

अथवा महापुरुष सम्मुख विद्यमान हों तो उनसे पूछकर उनके कहे अनुसार आचरण करना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(३।२१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है,अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार बर्तने लग जाता है।'

यदि महापुरुष न मिलें तो अपनी श्रद्धा, विश्वास, रुचि और स्वभावके अनुसार जो अपने आत्माका हितकर साधन प्रतीत हो उसीको करे। कल्याणप्रद धर्मके चार मूल हैं। श्रीमनुजीने कहा है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनु० २।१२)

'वेद, स्मृति महापुरुषोंका उत्तम आचरण और अपने आत्माकी रुचिके अनुसार परिणाममें हितकारक साधन—धर्मका यह चार प्रकारका साक्षात् लक्षण श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा कहा गया है।'

इसलिये ईश्वर, महापुरुष, सत्-शास्त्र और परलोकपर परम श्रद्धा करके साधनके लिये तत्परताके साथ प्रयत्न करना चाहिये। मनमें कभी निराशाको स्थान नहीं देना चाहिये; क्योंकि निराशा उत्साहको भङ्ग करके मनुष्यका पतन कर देती है।

आत्माके उद्धारके लिये संसारमें श्रद्धासे बढ़कर कोई उपाय नहीं है। केवल श्रद्धासे ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

श्रीनारदपुराणके पूर्वभागके प्रथम पादमें श्रीसनत्कुमारजीने नारदजीसे कहा है—

श्रद्धापूर्वाः सर्वधर्मा मनोरथफलप्रदाः।
श्रद्धया साध्यते सर्वं श्रद्धया तुष्यते हरिः॥
श्रद्धावाँल्लभते धर्मं श्रद्धावानर्थमाप्नुयात्।
श्रद्धया साध्यते कामः श्रद्धावान् मोक्षमाप्नुयात्॥

(४।१.६)

'नारद! श्रद्धापूर्वक आचरणमें लाये हुए ही सब धर्म मनोवाञ्छित फल देनेवाले होते हैं। श्रद्धासे सब कुछ सिद्ध होता है और श्रद्धासे ही भगवान् श्रीहरि संतुष्ट होते हैं। श्रद्धालु पुरुषको धर्मका लाभ होता है, श्रद्धालु ही धन पाता है, श्रद्धासे ही कामनाओंकी सिद्धि होती है और श्रद्धालु पुरुष ही मोक्ष पाता है।'

श्रीस्कन्दपुराणमें नारदजीने राजा धर्मवर्मासे कहा है—

कायक्लेशैश्च बहुभिर्न नैवार्थस्य राशिभिः।
धर्मः सम्प्राप्यते सूक्ष्मः श्रद्धा धर्मोऽद्भुतं तपः॥
श्रद्धा स्वर्गश्च मोक्षश्च श्रद्धा सर्वमिदं जगत्।
सर्वस्वं जीवितं चापि दद्यादश्रद्धया यदि॥
नाप्नुयात् स फलं किंचिच्छ्रद्दधानस्ततो भवेत्।
श्रद्धया साध्यते धर्मो महद्भिर्नार्थराशिभिः॥

(स्क० मा० कुमा० ३। २९—३१)

'राजन्! शरीरको बहुत क्लेश देनेसे तथा धनकी राशियोंसे सूक्ष्म

धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। श्रद्धा ही धर्म और अद्भुत तप है, श्रद्धा ही स्वर्ग और मोक्ष है तथा श्रद्धा ही यह सम्पूर्ण जगत् है। यदि कोई मनुष्य बिना श्रद्धाके अपना सर्वस्व दे दे अथवा अपना जीवन ही न्योछावर कर दे, तो भी वह उसका कोई फल नहीं पाता; इसलिये सबको श्रद्धालु होना चाहिये। श्रद्धासे ही धर्म सिद्ध होता है, धनकी बहुत बड़ी राशिसे नहीं।'

श्रीरामचरितमानसमें भी बतलाया गया है—

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महि गंध कि पावइ कोई॥
कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरि भजन न भव भय नासा॥
बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥

(रा० च० मा० उत्तर० ८९। २, ४; ९०क)

अतः समस्त साधनोंकी सिद्धिमें श्रद्धा ही मूल कारण है। जो मनुष्य श्रद्धेयकी आज्ञा पाकर उसके अनुसार आचरण करता है, वह श्रद्धालु है। उससे अधिक श्रद्धालु वह है, जो श्रद्धेयका संकेतमात्र मिलते ही तदनुसार कार्य करने लगता है। उसकी अपेक्षा वह और अधिक श्रद्धालु है, जो अपने मनके विपरीत होनेपर भी उस कार्यको करता है तथा उससे भी अधिक श्रद्धालु वह है, जो मनके विपरीत आज्ञाको पाकर भी बड़ी प्रसन्नतासे उसे करता है। एवं श्रद्धेयकी आज्ञाके लिये अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अपने-आपको न्योछावर कर देनेवाला पुरुष तो बहुत ही ऊँची श्रेणीका श्रद्धालु है। एक ओर अपनी मान्यता है और दूसरी ओर श्रद्धेयकी मान्यता है तो ऐसी स्थितिमें अपनी मान्यतापर कोई ध्यान न देकर श्रद्धेयकी बातको प्रत्यक्षकी भाँति समझकर काममें लानेवाला मनुष्य उच्चकोटिका श्रद्धालु है तथा

प्रत्यक्षसे भी बढ़कर श्रद्धेयकी बातका आदर करनेवाला परम श्रद्धालु है। भाव यह कि अपनी जो मान्यता, सिद्धान्त और समझ है—उन सबका श्रद्धेयकी बातपर बलिदान कर देना—यह परम श्रद्धालुका लक्षण है। जितनी अधिक श्रद्धा होती है, उतना ही उसमें बल आ जाता है। श्रद्धासे मनुष्यमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, शूरता आदि अनेक गुण प्रत्यक्ष आ जाते हैं। उसके मनमें अटल निश्चय हो जाता है कि श्रद्धेय जो बात कह रहे हैं, वह सोलहों आने—अक्षरशः वैसी ही है। अतः जिसके मनमें जितना अधिक निश्चय है, उसकी उतनी ही अधिक श्रद्धा समझी जाती है।

भक्त प्रह्लादके हृदयमें यह विश्वास था कि भगवान् सब जगह हैं। उनके विश्वासके बलपर भगवान्‌को खम्भेसे प्रकट होना पड़ा। यह श्रद्धाकी महिमा है। भक्त प्रह्लादके दृढ़ निश्चय और विश्वासके बलसे उनके लिये अग्नि भी शीतल हो गयी। भगवान्‌की कृपासे असम्भव भी सम्भव और सम्भव भी असम्भव हो जाता है। अग्निका स्वाभाविक धर्म है जलाना; किंतु प्रह्लादको जब अग्निमें बैठाया गया, उस समय प्रह्लाद अग्निको परमात्माके रूपमें देख रहे थे; अतः अग्निकी शक्ति नहीं कि उनको जला दे। प्रह्लादके निश्चयसे प्रह्लादको तो अग्निमें भी भगवान् ही स्थित दिखलायी पड़ते थे। उस समय प्रह्लादने हिरण्यकशिपुसे कहा—

तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि
न मां दहत्यत्र समन्ततोऽहम्।
पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि
शीतानि सर्वाणि दिशाम्मुखानि॥

(विष्णुपु० १। १७। ४७)

'तात! यहाँ पवनसे प्रेरित हुआ भी यह अग्नि मुझे नहीं जला

सकता। मुझको तो सभी दिशाएँ ऐसी शीतल प्रतीत होती हैं, मानो मेरे चारों ओर कमलके आसन बिछे हुए हों।'

इसका कारण यही था कि उनका सर्वत्र भगवद्भाव था। हिरण्यकशिपुकी आज्ञासे जब दैत्योंने उनपर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार किया, तब उन्होंने उनसे स्पष्ट कहा था—

विष्णुः शस्त्रेषु युष्मासु मयि चासौ व्यवस्थितः।
दैतेयास्तेन सत्येन माक्रमन्त्वायुधानि मे॥

(विष्णुपु० १। १७। ३३)

'दैत्यो! भगवान् विष्णु तो शस्त्रोंमें, तुमलोगोंमें और मुझमें—सर्वत्र ही स्थित हैं। इस सत्यके प्रभावसे इन अस्त्र-शस्त्रोंका मेरे ऊपर कोई प्रभाव न हो।'

जब हिरण्यकशिपुकी आज्ञासे दिग्गजोंने प्रह्लादको दाँतोंसे रौंदा, तब उनके हजारों दाँत उनकी छातीसे टकराकर टूट गये। उस समय प्रह्लादने पिताको बतलाया—

दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुराः
शीर्णा यदेते न बलं ममैतत्।
महाविपत्तापविनाशनोऽयं
जनार्दनानुस्मरणानुभावः॥

(विष्णुपु० १। १७। ४४)

'ये जो हाथियोंके वज्रके समान कठोर दाँत टूट गये हैं, इसमें मेरा कोई बल नहीं है। यह तो श्रीजनार्दन भगवान्‌के महान् विपत्ति और क्लेशोंको नष्ट करनेवाले स्मरणका ही प्रभाव है।'

भक्त प्रह्लादका भगवान्‌पर कितना दृढ़ विश्वास था! इसी कारण वे सर्वथा निर्भय हो गये थे। उन्होंने स्वयं अपने पिता हिरण्यकशिपुसे कहा था—

भयं भयानामपहारिणि स्थिते
मनस्यनन्ते मम कुत्र तिष्ठति।
यस्मिन् स्मृते जन्मजरान्तकादि
भयानि सर्वाण्यपयान्ति तात॥

(विष्णुपु० १। १७। ३६)

'तात! जिनके स्मरणमात्रसे जन्म, जरा और मृत्यु आदिके समस्त भय दूर हो जाते हैं, वे सकलभयहारी अनन्त मेरे हृदयमें स्थित हैं, ऐसी अवस्थामें मुझे भय कहाँ हो सकता है?'

उन्होंने केवल कहा ही नहीं, वास्तवमें उनमें निर्भयता थी। भगवान्‌ने उनके सम्मुख ऐसा भयंकर नृसिंहरूप प्रकट किया, जिसको देखकर विश्वको नष्ट करनेवाला काल भी डर जाता, संसारकी उत्पत्ति करनेवाले ब्रह्मा भी भयभीत हो गये, जगज्जननी लक्ष्मीजी भी भयभीत हो गयीं। सारे देवता और ऋषिगण हाथ जोड़कर मारे भयके दिव्य स्तोत्रोंसे उनकी स्तुति करने लगे। ऐसे कालके समान भयंकर रूपको देखकर भी प्रह्लादको भय नहीं लगा। वे निर्भय होकर भगवान्‌के पास चले गये। उनके मनमें न तो भयका भाव पहले आया और न परिणाममें ही। उनके निश्चयमें तो यह था कि ये साक्षात् मेरे प्रभु भगवान् ही हैं, इनसे मुझे क्या भय है। भगवान्‌का वह बाहरी भयानक रूप दुनियाके लिये था, प्रह्लादके लिये नहीं (श्रीमद्भा० स्क० ७ अ० ८-९)।

इसी प्रकार गुरुभक्त एकलव्य भीलकी गुरु द्रोणाचार्यके प्रति बड़ी भारी श्रद्धा थी। वह द्रोणाचार्यके पास धनुर्विद्या सीखने गया; किंतु उन्होंने उसको निषाद होनेके कारण धनुर्विद्याविषयक शिक्षा नहीं दी। यद्यपि एकलव्यकी यह श्रद्धा सकाम ही थी, फिर भी उसको यह विश्वास था कि 'द्रोणाचार्य मुझको शिष्य नहीं बनाते तो कोई बात नहीं।

मैंने उनको गुरु बना लिया है; अतः जो इनके शिष्य इनसे लाभ उठा रहे हैं; वह लाभ मैं भी उठा लूँगा।' वह द्रोणाचार्यके चरणोंमें प्रणाम करके वनमें चला गया। वहाँ उसने द्रोणाचार्यकी मिट्टीकी मूर्ति बनाकर उसीमें आचार्यकी परमोच्च भावना करके नियमपूर्वक स्वयं ही धनुर्विद्याका अभ्यास किया। उस परम श्रद्धाके प्रभावसे उसने बाणविद्यामें ऐसी कुशलता प्राप्त कर ली कि जिसके सामने द्रोणाचार्यके अत्यन्त प्रिय शिष्य अर्जुनको भी आश्चर्यचकित होना पड़ा। बाणविद्याके तत्त्वको द्रोणाचार्यकी मिट्टीकी मूर्तिसे एकलव्यने जितना सीखा, उतना अर्जुन साक्षात् द्रोणाचार्यसे भी नहीं सीख सके (महा० आदि० अ० १३१)।

राजा द्रुपदकी श्रद्धा भी सकाम थी। परंतु वह श्रद्धा ही नहीं, परम श्रद्धा थी। उन्होंने संतानकी प्राप्तिके लिये घोर तपस्या करके भगवान् शंकरको संतुष्ट किया, (तब भगवान् शंकरने उनको कन्या-प्राप्तिका वर दिया। इसपर) राजा द्रुपदने कहा—'भगवन्! मैं पुत्र चाहता हूँ; अतः मुझे कन्या नहीं, पुत्र प्राप्त हो।' इसपर श्रीमहादेवजीने कहा—'राजन्! तुम्हें पहले कन्या प्राप्त होगी, फिर वही पुरुष हो जायगी। मैंने जो कुछ कहा है, वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता।' इस वरदानके फलस्वरूप जब उन्हें कन्या प्राप्त हुई, तब भगवान् शंकरके वचनोंपर दृढ़ विश्वास और श्रद्धा होनेके कारण राजा द्रुपदने अपनी लड़कीको लड़का ही घोषित किया और लड़केके समान ही उसके जातकर्मादि संस्कार करवाकर पुरुष-जैसा ही 'शिखण्डी' नाम रखा। इतना ही नहीं, उसका विवाह भी दशार्णदेशके राजा हिरण्यवर्माकी कन्याके साथ कर दिया। फिर उनकी श्रद्धाके बलसे शिखण्डी समयपर पुरुषत्वको प्राप्त हो गया (महा० उद्योग० १८८—१९२)।

जबालाके पुत्र सत्यकामकी गुरुके प्रति बड़ी अनुपम श्रद्धा थी।

वे ब्रह्मको जाननेकी इच्छासे गौतमगोत्रीय महर्षि हारिद्रुमतके समीप गये। वहाँ वार्तालाप होनेपर गुरुने चार सौ अत्यन्त कृश और दुर्बल गौएँ अलग करके सत्यकामसे कहा—'सौम्य! तू इन गौओंके पीछे-पीछे जा।' बस, गुरुकी इसी आज्ञाको शिरोधार्य करके वे अत्यन्त श्रद्धा, उत्साह और हर्षके साथ उन गौओंको वनकी ओर ले चले। जाते समय उन्होंने गुरुसे निवेदन किया—'इनकी संख्या एक हजार पूरी हो जानेपर मैं लौटूँगा।' वे उन गौओंको तृण और जलकी अधिकतावाले निरापद जंगलमें ले जाकर चराने लगे। जब उनकी संख्या पूरी एक हजार हो गयी, तब लौटे। लौटते समय श्रद्धा-विश्वासपूर्वक गुरु-आज्ञा-पालनके प्रभावसे मार्गमें ही उनको वृषभ (साँड), अग्नि, हंस और मद्गु नामक जलमुर्ग पक्षीके द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया (छान्दोग्य-उप० ४। ४—९)। यह है श्रद्धाका फल।

भक्ति और विश्वासपूर्वक दृढ़ निश्चयको ही श्रद्धा कहते हैं। दृढ़ निश्चयमें बड़ा भारी बल होता है। उससे मनमें इतना बल आ जाता है कि फिर उसका कोई भी मुकाबला नहीं कर सकता। भक्त ध्रुवकी पाँच वर्षकी अवस्था थी, किंतु उसे ऐसा दृढ़ विश्वास था कि नारदजीके कथनानुसार साधन करनेपर अवश्य भगवान् मिलेंगे। और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक साधन करनेसे दृढ़ विश्वासके बलपर भगवान्‌को उसे दर्शन देना पड़ा (श्रीमद्भागवत, स्क० ४ अ० ८-९)।

इसी प्रकार भक्त सुधन्वाका भी भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास था। सदा-सर्वदा भगवान्‌का स्मरण करते रहनेके कारण उनके लिये उबलता हुआ तेल चन्दनके समान शीतल हो गया था। भक्त सुधन्वाको उबलते हुए तेलके कड़ाहेमें डाल दिया गया, किंतु वह सुधन्वाको नहीं जला सका; क्योंकि सुधन्वा तन्मय होकर भगवान्‌का स्मरण कर रहा था—

एवं ब्रुवति वीरेऽस्मिन् स्मरणान्माधवस्य तु ।
तैलं सुशीतलं जातं सज्जनस्येव मानसम् ॥

(जैमिनीय-अश्वमेध० १७ । १९०)

'वीर सुधन्वाके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् माधवके स्मरणके प्रभावसे वह तेल सज्जनके चित्तके सदृश अत्यन्त शीतल हो गया ।'

महर्षि शङ्ख और लिखितको शङ्का हुई कि कहीं तेल ठंडा तो नहीं है । उन्होंने परीक्षाके लिये तेलमें नारियल गिरवाया, जिसके दो टुकड़े होकर शङ्ख और लिखितके ही मस्तकपर पड़े और उनके चोट आ गयी ।

भक्तिमती मीराँका भी भगवान्‌के प्रति कितना महान् विश्वास और प्रेम था । जब राणाजीने मीराँके पास चरणामृतके नामपर हलाहल विषका प्याला भेजा, तब मीराँने प्रसन्नतापूर्वक भगवान्‌के नामका उच्चारण करके पान कर लिया, किंतु वह मीराँके लिये अमृतके समान हो गया ।

भक्तोंके, उच्चकोटिके महापुरुषोंके दृढ़ निश्चय—श्रद्धा-विश्वाससे असम्भव भी सम्भव हो सकता है । विष अमृत बन सकता है और अग्नि चन्दनके समान शीतल हो सकती है । यद्यपि ये सभी बातें असम्भव हैं; किंतु भक्ति और विश्वासयुक्त दृढ़ निश्चयमें बड़ा भारी बल है, उससे असम्भव भी सम्भव हो सकता है । इसीको आत्मबल और मानसिक बल भी कहते हैं । इसके मुकाबलेमें इन्द्रियोंका और शरीरका बल कुछ भी नहीं है । इस आत्मबलसे—श्रद्धाके प्रभावसे साधन तेज हो जाता है और साधन तेज होनेसे मन-इन्द्रियाँ वशमें हो जाते हैं । ऐसा कोई भी कार्य नहीं, जो श्रद्धासे नहीं हो सकता । श्रद्धा होनेपर भगवान्‌को प्रकट होना पड़ता है । श्रद्धासे, जो सम्भव और युक्तिसंगत है वह भी असम्भव हो जाता है और असम्भव सम्भव हो जाता है ।

ईश्वर, महात्मा और सत्-शास्त्रोंमें श्रद्धा-विश्वास करनेकी बात ऊपर बतलायी गयी, इसी प्रकार परलोकमें भी विश्वास करना चाहिये। आत्माके नित्यत्वका विश्वास ही परलोकविषयक विश्वास है अर्थात् आत्मा अजर-अमर है, शरीरका नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता। यह है आत्मविश्वास। यह आत्मविश्वास ही बतलाता है कि परलोक है। शरीरके साथ ही इस लोकसे सम्बन्ध छूटनेके बाद जिस लोककी प्राप्ति होती है, वही परलोक है। शरीरके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता अर्थात् शरीरके मरनेसे मैं नहीं मरूँगा—इस विश्वाससे मनुष्यमें वीरता, धीरता, गम्भीरता, निर्भयता आ जाती है, फिर उसको कौन मार सकता है? गीता अध्याय २ श्लोक २० में इसी तत्त्वको समझाया गया है। भगवान् कहते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है; (शरीर ही जन्मता-मरता है) तथा न यह (शरीरकी भाँति) उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

इस आत्मतत्त्वके भलीभाँति समझमें आ जानेसे उसी समय मनुष्यका कल्याण हो जाता है। यह विश्वास अमरत्वकी प्राप्ति करानेवाला है। 'शरीर मैं हूँ'—यह भाव अज्ञानके कारण ही है। आत्माका ज्ञान होनेपर शरीरकी कोई परवा नहीं रहती और उसमें निर्भयता आ जाती है। आत्माके विषयमें जिसे यह दृढ़ विश्वास

हो जाता है कि यह अजन्मा, नित्य, अनादि, शाश्वत, पुराण है, इसका कभी उद्भव या विनाश नहीं होता, वह अमरत्वको प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार जिसे परलोक और परमात्माका निश्चय हो जाता है, उसके द्वारा पाप नहीं हो सकते तथा उसमें भय नहीं रहता; बल्कि आत्मबल आ जाता है एवं उसे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो जाती है।

अब श्रद्धाकी प्राप्तिके उपाय बतलाये जाते हैं—

१. 'श्रद्धेयमें परम श्रद्धा कैसे हो ?' इसकी अतिशय लालसा या उत्कट इच्छाका निरन्तर जाग्रत् रहना।

२. श्रद्धेयके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका ज्ञान (अनुभव) होना।

३. श्रद्धेयकी आज्ञा, संकेत और सिद्धान्तका पालन करना।

४. जिन ग्रन्थोंमें भगवान्, महापुरुष, शास्त्र और परलोकके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका उल्लेख हो, उनका अर्थ और भावको समझते हुए अध्ययन करना।

५. आदरपूर्वक श्रद्धालु पुरुषोंका सङ्ग, वार्तालाप और अनुकरण करना।

६. अन्तःकरणकी शुद्धिके उद्देश्यसे निष्कामभावपूर्वक ईश्वरके नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान आदि उपासना; यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास आदि सत्कर्म; दुःखी और बड़ोंकी सेवा तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितकी चेष्टा करना। इनके निष्कामभावपूर्वक अनुष्ठानसे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर श्रद्धा प्राप्त हो जाती है; क्योंकि मनुष्यकी श्रद्धा उसके अन्तःकरणके अनुसार ही होती है (गीता १७। ३*)। उपर्युक्त

---

* सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

हे भारत ! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है। इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है।'

किसी भी एक उपायको साङ्गोपाङ्ग किया जाय तो श्रद्धा हो सकती है। श्रद्धासे साधनकी तत्परता, मन-इन्द्रियोंका संयम और ज्ञानकी प्राप्ति होकर परमशान्तिस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(४।३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है।'

इस कथनसे हमलोगोंको यह रहस्य समझना चाहिये कि श्रद्धाके अनुसार ही साधनमें तत्परता होती है और तत्परताके अनुसार ही मन-इन्द्रियाँ वशमें होती हैं तथा ऐसा होनेपर ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति होती है। बहुत-से अज्ञ मनुष्य अपनी साधारण श्रद्धाको भूलसे अधिक मान बैठते हैं और पूर्ण श्रद्धाके फलको न पाकर उत्साहहीन हो जाते हैं। इससे उनके साधनमें बाधा पड़ जाती है। इसलिये जितना साधन तेज हो उतनी ही श्रद्धा समझनी चाहिये और मन-इन्द्रियोंका संयम जितना हो, उतना ही साधन समझना चाहिये; क्योंकि श्रद्धाकी कसौटी साधन है और साधनकी कसौटी मन-इन्द्रियोंका संयम है।

श्रद्धा होना कठिन मानकर साधकको कभी निराश और निरुत्साह नहीं होना चाहिये; क्योंकि श्रद्धा पुरुषप्रयत्नसाध्य है, उपर्युक्त साधनोंके द्वारा मनुष्यकी श्रद्धा श्रद्धेयमें अवश्य हो सकती है। यदि ईश्वरकी दयाका आश्रय लिया जाय तो कार्यकी सिद्धि और भी शीघ्र हो जाती

है। जो कुछ भी अच्छापन अपनेमें दीखता है अर्थात् जो भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सद्गुण-सदाचार आदि उत्तम गुण और उत्तम भाव देखनेमें आते हैं, उनमें तो ईश्वरकी और महापुरुषोंकी कृपा समझनी चाहिये तथा अपनेमें जो दुर्गुण-दुराचार, दुर्व्यसन आदि विकार देखनेमें आते हैं, उनमें अज्ञता, अश्रद्धा, संशय, आसक्ति और कामना आदि अपने स्वभावका और कुसङ्गका दोष समझना चाहिये। ईश्वर और महात्माकी कृपासे तो श्रद्धेयमें श्रद्धा होकर साधन तेज होता है। अतः यदि साधन तेज नहीं हो रहा है तो उसमें अपने स्वभावका दोष समझना चाहिये।

जो मूर्ख मनुष्य ईश्वरकी और महात्माकी दयाके तत्त्वको नहीं समझते हैं, वे आलस्यके वश होकर साधनको छोड़ बैठते हैं और कहते हैं कि 'हमारा साधन तो ईश्वर और महात्माकी कृपासे अपने-आप ही होगा।' यों समझनेवाले अविवेकी मनुष्योंका साधन तेज होना तो दूर रहा, उलटा कम हो जाता है, उन्हें निद्रा-आलस्य घेर लेते हैं एवं उनमें अकर्मण्यता बढ़ जाती है। वे अज्ञ मनुष्य फिर कहने लगते हैं कि 'हम तो ईश्वर या महात्माकी दयाके भरोसेपर, उन्हींके शरण हैं।' किंतु याद रखें, यह नियम है कि ईश्वर और महात्माकी दयाके भरोसे उनके शरण होनेपर तो साधन तेज होता है, उसके प्रयत्नमें कभी कमी नहीं आती। यह शास्त्रोंका निर्णय है। अतः यह कसौटी है कि जिस कृपाके आश्रय और शरणागतिसे साधन तेज हो, आत्माकी उन्नति हो, वह तो ईश्वर और महात्माकी कृपाका सच्चा आश्रय और सच्ची शरणागति है, एवं जिससे साधन कम हो या छूट जाय तथा निद्रा, आलस्य, प्रमाद, दुर्गुण, दुराचार और विक्षेप घेर लें, वह ईश्वर और महात्माकी कृपाका आश्रय और शरणागति नहीं है, वह तो मनका धोखा है। जैसे भगवन्नामजप और गीतादि शास्त्रोंके अध्ययनसे कभी

हानि होनेकी सम्भावना नहीं है, वैसे ही ईश्वर और महापुरुषोंकी कृपाका परिणाम कभी बुरा नहीं हो सकता।

अतः श्रद्धेयमें किसी प्रकारके दोषकी कल्पना करना साधनमें बड़ा भारी विघ्न है। इससे साधकका बहुत पतन होता है। इतना ही नहीं, किसीके भी दोष देखना साधनमें बड़ा भारी विघ्न है। अतः एक-दूसरेके दोषोंको देखनेकी मनुष्यमें जो प्रवृत्ति रहती है, वह सर्वथा त्याज्य है। श्रोतागण वक्ताके दोषोंको देखते हैं और वक्ता श्रोताओंके दोषोंको देखते हैं। जैसे वक्ताके कथनको सुनकर श्रोतागण वक्तापर यों दोषकी कल्पना करते हैं कि ये हमको तो उपदेश देते हैं किंतु स्वयं पालन नहीं करते। इसी प्रकार वक्ता जो उपदेश देता है, उसका पालन श्रोतागण नहीं करते तो वक्ता कहता है कि श्रोतागण सुनी हुई बातको काममें नहीं लाते—इसमें श्रोताओंकी अपनी श्रद्धाकी कमी ही हेतु है। परंतु इस प्रकार दोषदृष्टि करनेसे किसीको भी लाभ नहीं है। अतएव सबको अपना-अपना दोष देखना चाहिये। वक्तासे परम हितकारक साधनकी बातें सुनकर उनके अनुसार साधन नहीं होता तो उसमें श्रोताको तो अपनी श्रद्धाकी कमी, संशय, विषयासक्ति और स्वभावका दोष समझना चाहिये। एवं वक्ताको श्रोताओंके हृदयमें अपनी कही हुई बात धारण न होनेमें अपनी वाणीके ओज, तेज और सत्यताकी कमी, उपदेशके अनुकूल आचरणोंकी कमी तथा अपने मन-बुद्धिके सामर्थ्यकी कमी सोचकर अपना ही दोष समझना चाहिये। इस प्रकार अपना-अपना दोष देखनेसे मनुष्यका सुधार हो सकता है और इसीमें सबका लाभ है।

अतः किसीमें भी दोषदृष्टि नहीं करनी चाहिये, सदा गुणग्राही बनना चाहिये। गुण किसीमें भी हो उसको ग्रहण करना चाहिये तथा ईश्वर, महात्मा और सत्-शास्त्रकी आज्ञाओंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक विशेषरूपसे पालन करना चाहिये। इससे मनुष्यका शीघ्र कल्याण हो सकता है।

साधनको साध्यसे भी अधिक आदर देना चाहिये

परमात्माकी प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उन सब साधनोंको परमात्माकी प्राप्तिसे बढ़कर आदर देना चाहिये। साधनमें विशेष आदरबुद्धि होनेपर साधन तेज होता है। हमलोग साधनको जितना आदर देना चाहिये, उतना नहीं देते। इसीसे साधन शिथिल रह जाता है और सफलता दूर बनी रहती है। महर्षि पतञ्जलिजीने आदरपूर्वक किये गये साधनको ही उच्चकोटिका बतलाया है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (योगदर्शन १।१३)

'उन अभ्यास-वैराग्यमेंसे स्थितिके लिये यत्न करनेका नाम 'अभ्यास' है।'

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

(योगदर्शन १।१४)

'किंतु वह अभ्यास लम्बे समयतक, निरन्तर तथा आदर-सत्कार-पूर्वक सेवन करनेसे दृढ़भूमि होता है।'

भगवान् श्रीकृष्ण भी गीतामें परम श्रद्धासे साधन करनेवाले अपने साधक भक्तोंको सर्वोत्तम बतलाते हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(१२।२)

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप

परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।'

जहाँ परम श्रद्धा होती है, वहाँ आदर-सत्कार तो अपने-आप ही होने लगता है।

अतः श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणादि शास्त्रोंमें परमात्माकी प्राप्तिके जो अनेक साधन बतलाये गये हैं और गीतामें भी ज्ञानयोग,* भक्तियोग,† कर्मयोग‡ और ध्यानयोग$ एवं ब्रह्मयोग, संयमयज्ञ,

---

* तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
(गीता ५। १७)

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं।'

† भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
(गीता ११। ५४-५५)

'परंतु परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकारके रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ। अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

‡ योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
(गीता २। ४८)

'धनंजय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर, समत्व ही योग कहलाता है।'

$ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
(गीता १३। २४का पूर्वार्ध)

द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, प्राणायामरूप यज्ञ* आदि नामोंसे जो अनेक प्रकारके साधन बतलाये गये हैं, उन साधनोंको विशेष आदर देना चाहिये।

बहुत-से साधक कहा करते हैं कि हम साधन तो करते हैं, किंतु हमें सफलता प्राप्त नहीं होती। उनका कथन सत्य है, पर उनके सफलता प्राप्त न होनेका कारण यही है कि वे साधनको आदरपूर्वक निष्कामभावसे नहीं करते। अधिकांश साधकोंकी दृष्टि साधनके फलकी ओर रहती है, इस कारण तथा श्रद्धाकी कमीके कारण साधन आदरपूर्वक नहीं होता, इसीसे वे जैसा फल चाहते हैं, वैसा देखनेमें नहीं आता। इसीसे साधनमें उत्साह नहीं होता और निराशा उत्पन्न होकर शिथिलता आ जाती है। अतएव मनुष्यको उचित है कि वह आदरपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करे, फलकी ओर न देखे; क्योंकि मनुष्यका कर्म करनेमें ही अधिकार है, फलमें नहीं। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(२।४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

इस निष्काम सेवाके विशद स्वरूपको स्पष्ट समझनेके लिये एक

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं।'

* गीता अध्याय ४ श्लोक २४, २७, २८, २९।

हो ?' रामूने कहा—'आपके दर्शनके उद्देश्यसे। आज मेरा बड़ा ही सौभाग्य है, जो मुझे आपके दर्शन प्राप्त हो गये।' दीवानने पुनः कहा—'मेरे दर्शनसे क्या लाभ है भैया?' रामूने उत्तर दिया—'आपके महाराजसाहब बड़े ही महात्मा, ज्ञानी, भगवद्भक्त और महापुरुष हैं। आप उनके दीवान हैं। आपके दर्शनसे भी मनुष्य पवित्र हो जाता है।' दीवानने कहा—'ऐसी ही बात है तो फिर तुम हमारे यहाँ ही रह जाओ।' उसने उत्तर दिया—'यह तो मेरे लिये परम सौभाग्यकी बात होगी।' फिर दीवानने पेशकारसे कहा—'इस नौकरको हम अपने यहाँ रखना चाहते हैं।' पेशकारने कहा—'मैं आपको इससे भी अच्छा दूसरा नौकर दे दूँगा।' दीवानने कहा—'नहीं, हम इसे ही रखेंगे।' ऐसा कह उसको अपने पास रख लिया।

जब रामूको सेवा करते बहुत दिन हो गये, तब दीवानसाहबने उससे कुछ रुपये घर भेजनेके लिये आग्रह किया। पर उसने स्पष्टरूपसे अस्वीकार कर दिया और कहा—'आपकी कृपासे घरपर कोई कमी नहीं है। मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि मैं रुपयोंके लिये आपके यहाँ नहीं रहता। आपकी सेवा ही मेरे लिये परम लाभ है, क्योंकि आप महाराजसाहबके निजी मन्त्री हैं और महाराजसाहब परम ज्ञानी, परम भक्त, महात्मा पुरुष हैं।' दीवानसाहबने पुनः अत्यन्त आग्रहपूर्वक कहा—'हमारे संतोषके लिये ही भेजना चाहिये।' किंतु उसने बिलकुल स्वीकार नहीं किया। तब दीवानसाहबने पूछा—'फिर, तुम क्यों मेरी सेवा करते हो?' उसने कहा—'आपकी सेवा करते-करते कभी महाराजसाहबके भी दर्शन हो जायँगे—इसलिये करता हूँ।' दीवानसाहब बोले—'महाराजसाहबका दर्शन तो मैं तुम्हें कल ही करवा दूँगा। कल दोपहरमें एक बजे महाराजसाहबके दरबारमें मुझे

जल पिलानेके लिये गिलास लेकर चले आना।' 'बहुत अच्छा' कहकर उसने वैसा ही किया। वह दूसरे दिन ठीक समयपर जलका गिलास लेकर पहुँचा और मन्त्रमुग्धकी भाँति महाराजसाहबकी ओर निर्निमेष नेत्रोंसे देखने लगा। महाराजसाहबकी दृष्टि उसपर पड़ी। उन्होंने दीवानसे पूछा—'यह कौन है? क्यों आया है?' दीवानने कहा—'सरकार! मैं आज शीघ्रतामें बिना ही जल पीये आ गया था, अतः यह मुझे जल पिलाने आया है। मेरे यहाँ काम करता है।' महाराजसाहबकी अनुमतिसे दीवानने जल पी लिया। रामू वहाँ था ही, उसका बदन भगवान्‌की कृपासे बड़ा ही सुन्दर था और आज तो वह महाराजके दर्शन पाकर हर्ष-गद्‌गद हो रहा है। उसके मुखपर आनन्दकी अमित रेखाएँ खेल रही थीं। महाराज उसकी गतिविधिकी ओर देखते रहे। पता नहीं, क्यों उनका आकर्षण हो गया। रामू चुपचाप गिलास माँजने लगा, जूते साफ करने लगा, इधर-उधर सफाईमें लग गया। पर उसके नेत्रभ्रमर महाराजके मुखकमलपर ही लगे रहे। तब महाराजसाहबने दीवानसे कहा—'यह लड़का तो बहुत अच्छा मालूम होता है, बिना कहे ही काम करता है और बड़ी सफाई तथा व्यवस्थासे सब काम कर रहा है। बुद्धिमान् भी है। इसको क्या वेतन देते हो?' दीवान बोले—'सरकार! यह बहुत आग्रह करनेपर भी वेतन लेता ही नहीं।' यह सुनकर महाराजको बहुत आश्चर्य हुआ और उन्होंने रामूको पास बुलाकर पूछा—'भैया! तुम बिना वेतन लिये इतनी तत्परतासे किस उद्देश्यसे सेवा करते हो।' रामूने उत्तर दिया—'सरकार! श्रीमान्‌के दर्शनके उद्देश्यसे। आज श्रीमान्‌के मङ्गलमय दर्शन पाकर मैं कृतकृत्य हो गया।' महाराजसाहबने कहा—'जब ऐसी बात है, तब तुम हमारे ही यहाँ रहो। यह सुनकर रामूको बहुत हर्ष हुआ और वह

बोला—'इससे बढ़कर मेरे लिये परम लाभ और क्या होगा। सरकार ! मुझे श्रीमान्‌की चरणसेवाका सौभाग्य मिल जाय तब तो मेरा जीवन ही सफल हो जाय।' तब महाराजसाहबने दीवानसे कहा—'इस नौकरको हम अपनी सेवामें रखना चाहते हैं।' दीवानको रामू बहुत प्रिय था। वे उसे छोड़ना नहीं चाहते थे, अतः उन्होंने कहा—'मैं दूसरा अच्छा नौकर आपको दे दूँगा।' किंतु महाराजने पुनः रामूके लिये ही अपनी प्रबल इच्छा प्रकट की। दीवानके सम्मत होते ही रामूको महाराजसाहबके यहाँ सहज ही स्थान मिल गया।

रामू महाराजसाहबकी सेवा बड़े ही उल्लास, श्रद्धा, दक्षता, प्रेम और उत्साहके साथ बड़ी लगनसे करने लगा। महाराजसाहब उसकी सेवासे संतुष्ट हो गये। उन्हें यह अनुभव होने लगा कि ऐसी सेवा कोई नौकर तो कर ही नहीं सकता। अपना सत्-पुत्र भी नहीं कर सकता। महाराजसाहब प्रसन्न होकर उसे सेवाके बदले बहुत बड़ी संख्यामें पुरस्कार देने लगे, कुछ धनराशि घरपर भेज देनेके लिये भी उन्होंने बहुत आग्रह किया। किंतु रामूने नम्रतापूर्वक अस्वीकार करते हुए कहा—'सरकार ! श्रीमान्‌की कृपासे घरपर सब कुछ है। मैं धनराशिके लिये श्रीमान्‌की चरण-सेवा नहीं करता हूँ। श्रीमान्‌का सेवारूप परम लाभ ही मेरे लिये महान् पुरस्कार है। श्रीमान् महात्मा, ज्ञानी, परम भक्त और महापुरुष हैं। श्रीमान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्शसे ही मनुष्यका कल्याण हो जाता है। फिर सेवाकी तो बात ही क्या है। मैं तो श्रीमान्‌के दर्शनसे ही कृतकृत्य हो चुका हूँ। अब तो श्रीमान्‌ने सेवाका सौभाग्य दे दिया। इसके अतिरिक्त अब और क्या पाना शेष रह गया। मैं तो कृतार्थ हो चुका श्रीमान् ! महाराजसाहब बोले—'मेरे संतोषके लिये जो तुम्हारी इच्छा हो मुझसे माँग लो।' महाराजसाहबने सोचा कि 'यह अधिक-से-

अधिक राज्य भी माँग लेगा तो कोई हर्ज नहीं, यह मेरे पुत्रकी जगह रहेगा।' रामूने उत्तरमें कहा—'श्रीमान्! आप देनेका इतना आग्रह करते हैं तो कृपा करके यह निश्चयपूर्वक कह दें कि न तो श्रीमान् कभी मुझे अलग करेंगे और न श्रीमान् ही कभी मुझसे अलग होंगे।' महाराजसाहबने गद्गद होकर कहा—'भैया! मुझे स्वीकार है। स्वीकार है!'

तदनन्तर रात्रिमें जब महाराजसाहब अन्तःपुरमें पधारने लगे, तब रामू भी उनके पीछे-पीछे जाने लगा। राजाने कहा—'तुम कहाँ जाते हो?' रामू बोला—'जहाँ श्रीमान् रहेंगे वहीं तो मैं रहूँगा; क्योंकि श्रीमान् मुझे यह वर दे चुके हैं।' महलमें पहुँचकर राजाने रानीसे कहा—'लो, यह तुम्हारे लिये मैं सुपुत्र लाया हूँ।' रानी बहुत ही प्रसन्न हुईं; क्योंकि उनके संतान नहीं थी। अब वे उसीको अपना लड़का मानने लगीं। वह बालक भी राजा-रानीको ही पिता-माता समझकर उनकी खूब सेवा करने लगा।

एक दिन राजाने रामूसे यह प्रस्ताव किया कि हम वनमें जाकर एकान्तमें रहेंगे। तुम यहाँ रहकर राज्य करो। पर उसने अस्वीकार कर दिया और कहा—'श्रीमान्ने मुझको वर दिया है कि न कभी मुझे श्रीमान् अलग करेंगे और न श्रीमान् ही कभी अलग होंगे। यदि श्रीमान् वनमें जायँगे तो मैं भी श्रीमान्के साथ ही रहूँगा।' महाराजसाहब बोले—'हम दोनों वनमें चले जायँगे तो फिर राज्य कौन सँभालेगा?' लोभशून्य त्यागमूर्ति रामूने कहा—'राज्य दीवानसाहबको दे दीजिये।' राजाने उसका निष्कामभाव देखकर राज्यमें रहना ही स्वीकार कर लिया और कहा—'मैं तुमको युवराजपदपर अभिषिक्त करना चाहता हूँ।' रामूने कहा—'राज्यपदपर तो श्रीमान् ही रहिये। इसके लिये तो मुझे

क्षमा करनी होगी। इसके सिवा मुझे श्रीमान् जो भी आज्ञा करेंगे, मैं सब तरहसे उसका पालन करूँगा।'

फिर महाराजसाहबने कहा—'बहुत-से सरकारी कागजोंपर मुझे नित्य अपनी स्वीकृति देनेके लिये हस्ताक्षर करने पड़ते हैं, मैं थक जाता हूँ, यह काम तुम कर दिया करो।' महाराजकी प्रसन्नताके लिये रामूको यह स्वीकार करना पड़ा। राजाने राजसभामें घोषणा कर दी कि आजसे इसकी सही मेरी सही समझी जायगी।

तत्पश्चात् एक दिन राजाने उससे कहा—'राजसभामें मुझे नित्य जाना पड़ता है। मेरा शरीर अब अशक्त हो गया। अतः वह काम भी तुम ही कर लिया करो।' उनका आग्रह होनेपर उस कार्यको भी वह करने लगा। वह राजसभामें जाकर वहीं सब काम देखने तथा स्वीकृति प्रदान करनेके लिये कागजोंपर हस्ताक्षर करने लगा। युवराजपद न लेकर भी वह महाराजसाहबके आज्ञानुसार सब कार्य करने लगा।

उस दिन वह दीवानसाहबके पहुँचनेके पहले ही राजसभामें चला गया। जब दीवानसाहब राजसभामें प्रवेश कर रहे थे, तब रामू उनके चरणोंमें गिर गया। दीवानने कहा—'आप युवराज हैं, आपको ऐसा नहीं करना चाहिये।' वह बोला—'मैं तो आपके जूँठे बरतन माँजनेवाला आपके चरणोंका सेवक हूँ।' दीवानने कहा—'अब आप युवराजपदको प्राप्त हो गये हैं, ऐसा न कहिये।' रामू बोला—'यह सब तो आपकी कृपा है। मैं तो आपका सेवक ही रहा हूँ और सेवक ही रहूँगा!' ऐसा कह वह दीवानसाहबका हाथ पकड़कर राजसिंहासनकी ओर ले जाने लगा। दीवानने कहा—'यह तो आपके लिये है, मैं तो इस सिंहासनका सेवक हूँ।' यों कह वे राजसिंहासनको नमस्कार करके आगे नहीं बढ़े, अपने स्थानपर ही रुक गये।

इसके बाद जब रामूने पेशकारको दूरसे आते देखा तो उसने उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार किया। पेशकार बहुत ही संकोचमें पड़ गया और बोला—'राजकुमारसाहब ! आप यह क्या करते हैं, यह क्या करते हैं ?' रामूने कहा—'मैं तो आपके जूँठे बरतन माँजनेवाला आपके चरणोंका सेवक हूँ।' पेशकारने कहा—'भगवान्‌की कृपासे अब आप राज्यके स्वामी हैं। आपको ऐसा नहीं कहना चाहिये।' रामूने कहा—'यह सब आपकी कृपाका फल है। आपका तो मैं सेवक ही रहा और सेवक ही हूँ।' ऐसा कह रामू पेशकारको भी हाथ पकड़कर राजसिंहासनपर ले जाने लगा। पेशकार बोला—'मैं राजसिंहासनपर कैसे बैठ सकता हूँ। वह तो महाराजसाहबका सिंहासन है। आप ही उसके अधिकारी हैं, मैं नहीं।' किंतु रामू उसको आदरपूर्वक खींचने लगा। तब दीवानसाहबने रोककर कहा—'इस स्थानपर तो हम भी नहीं जा सकते, फिर यह बेचारा कैसे जा सकता है ! अतः आपको आग्रह नहीं करना चाहिये।' पेशकार वहीं रुक गया।

एक दिन पेशकारका नौकर, रामूका मित्र गोपाल आया तो उसको देखकर रामू दौड़ पड़ा और उसके चरणोंमें जा गिरा। गोपालने बहुत संकोचमें पड़कर कहा—'यह आप क्या कर रहे हैं ! मैं तो एक तुच्छातितुच्छ चाकर हूँ।' रामू बोला—'यह सब आपकी ही कृपा है। आपका तो मैं छोटे भाईकी भाँति मित्र ही रहा और मित्र ही हूँ।' यों कह रामू गोपालको खींचकर सिंहासनपर बैठानेके लिये ले जाने लगा; पर वह कैसे जाता, वह अपने स्थानपर ही रुक गया।

यह एक दृष्टान्त है। इसको अध्यात्मविषयमें यों समझना चाहिये—यहाँ ज्ञानी महात्मा परम भक्त महापुरुष राजासाहबको परमात्मा, दीवानसाहबको अधिकारी भगवत्प्राप्त पुरुष, पेशकारको

क्षमा करनी होगी। इसके सिवा मुझे श्रीमान् जो भी आज्ञा करेंगे, मैं सब तरहसे उसका पालन करूँगा।'

फिर महाराजसाहबने कहा—'बहुत-से सरकारी कागजोंपर मुझे नित्य अपनी स्वीकृति देनेके लिये हस्ताक्षर करने पड़ते हैं, मैं थक जाता हूँ, यह काम तुम कर दिया करो।' महाराजकी प्रसन्नताके लिये रामूको यह स्वीकार करना पड़ा। राजाने राजसभामें घोषणा कर दी कि आजसे इसकी सही मेरी सही समझी जायगी।

तत्पश्चात् एक दिन राजाने उससे कहा—'राजसभामें मुझे नित्य जाना पड़ता है। मेरा शरीर अब अशक्त हो गया। अतः वह काम भी तुम ही कर लिया करो।' उनका आग्रह होनेपर उस कार्यको भी वह करने लगा। वह राजसभामें जाकर वहीं सब काम देखने तथा स्वीकृति प्रदान करनेके लिये कागजोंपर हस्ताक्षर करने लगा। युवराजपद न लेकर भी वह महाराजसाहबके आज्ञानुसार सब कार्य करने लगा।

उस दिन वह दीवानसाहबके पहुँचनेके पहले ही राजसभामें चला गया। जब दीवानसाहब राजसभामें प्रवेश कर रहे थे, तब रामू उनके चरणोंमें गिर गया। दीवानने कहा—'आप युवराज हैं, आपको ऐसा नहीं करना चाहिये।' वह बोला—'मैं तो आपके जूँठे बरतन माँजनेवाला आपके चरणोंका सेवक हूँ।' दीवानने कहा—'अब आप युवराजपदको प्राप्त हो गये हैं, ऐसा न कहिये।' रामू बोला—'यह सब तो आपकी कृपा है। मैं तो आपका सेवक ही रहा हूँ और सेवक ही रहूँगा!' ऐसा कह वह दीवानसाहबका हाथ पकड़कर राजसिंहासनकी ओर ले जाने लगा। दीवानने कहा—'यह तो आपके लिये है, मैं तो इस सिंहासनका सेवक हूँ।' यों कह वे राजसिंहासनको नमस्कार करके आगे नहीं बढ़े, अपने स्थानपर ही रुक गये।

इसके बाद जब रामूने पेशकारको दूरसे आते देखा तो उसने उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार किया। पेशकार बहुत ही संकोचमें पड़ गया और बोला—'राजकुमारसाहब ! आप यह क्या करते हैं, यह क्या करते हैं ?' रामूने कहा—'मैं तो आपके जूँठे बरतन माँजनेवाला आपके चरणोंका सेवक हूँ।' पेशकारने कहा—'भगवान्‌की कृपासे अब आप राज्यके स्वामी हैं। आपको ऐसा नहीं कहना चाहिये।' रामूने कहा—'यह सब आपकी कृपाका फल है। आपका तो मैं सेवक ही रहा और सेवक ही हूँ।' ऐसा कह रामू पेशकारको भी हाथ पकड़कर राजसिंहासनपर ले जाने लगा। पेशकार बोला—'मैं राजसिंहासनपर कैसे बैठ सकता हूँ। वह तो महाराजसाहबका सिंहासन है। आप ही उसके अधिकारी हैं, मैं नहीं।' किंतु रामू उसको आदरपूर्वक खींचने लगा। तब दीवानसाहबने रोककर कहा—'इस स्थानपर तो हम भी नहीं जा सकते, फिर यह बेचारा कैसे जा सकता है ! अतः आपको आग्रह नहीं करना चाहिये।' पेशकार वहीं रुक गया।

एक दिन पेशकारका नौकर, रामूका मित्र गोपाल आया तो उसको देखकर रामू दौड़ पड़ा और उसके चरणोंमें जा गिरा। गोपालने बहुत संकोचमें पड़कर कहा—'यह आप क्या कर रहे हैं ! मैं तो एक तुच्छातितुच्छ चाकर हूँ।' रामू बोला—'यह सब आपकी ही कृपा है। आपका तो मैं छोटे भाईकी भाँति मित्र ही रहा और मित्र ही हूँ।' यों कह रामू गोपालको खींचकर सिंहासनपर बैठानेके लिये ले जाने लगा; पर वह कैसे जाता, वह अपने स्थानपर ही रुक गया।

यह एक दृष्टान्त है। इसको अध्यात्मविषयमें यों समझना चाहिये—यहाँ ज्ञानी महात्मा परम भक्त महापुरुष राजासाहबको परमात्मा, दीवानसाहबको अधिकारी भगवत्प्राप्त पुरुष, पेशकारको

उच्चकोटिका साधक एवं पेशकारके नौकरको साधक पुरुषोंका सेवक समझना चाहिये। राजसभाको भगवान्‌का परम धाम और रामू कहारको निष्काम प्रेमी विनयी सेवकके रूपमें उच्चकोटिका साधक भक्त समझना चाहिये। रामू कहारकी क्रमशः एकके बाद एक होनेवाली उन्नतिको—उसके आगे बढ़नेको साधनकी क्रमोन्नति और उसे युवराजपद प्राप्त होनेको ही परमपदकी प्राप्ति होना समझना चाहिये।

इस दृष्टान्तसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि जिस प्रकार उस रामूने अपने लौकिक गृहस्थ-निर्वाहके लिये उपयोगी धनराशिको भी ठुकरा दिया और सब क्रियाओंके फलस्वरूप प्राप्त हुए युवराज-पदका भी आदर नहीं किया, वरं अपने लिये पेशकारकी सेवा प्राप्त होना भी महान् सौभाग्य समझा, इसी प्रकार हमलोगोंको भगवद्भक्तिरूप साधनमें सांसारिक प्रलोभनोंको ठुकराकर भगवान्‌के दासानुदासकी भी सेवाको आदर देना चाहिये। जैसे रामूने दीवानसाहबको आदर दिया, उसी प्रकार हमें भगवान्‌के परम भक्त पुरुषोंका विशेष आदर करना चाहिये। फिर साक्षात् भगवान्‌का आदर करनेकी तो बात ही क्या है ? और जैसे रामूने महाराजसाहबका आदर किया, उसी प्रकार निष्कामभाव और विनय-पूर्वक भगवान्‌का सबसे बढ़कर आदर करना चाहिये। जैसे रामू कहार युवराज-पदपर स्थित होकर भी दीवान और पेशकारका विशेष आदर करता रहा और केवल उनके साथ ही नहीं, उनके नौकरके साथ भी उसका पहले-जैसा ही मित्रताका भाव रहा, वैसे ही हमें, जिनके सम्बन्धसे परमपदकी प्राप्ति हो, उन अपनी सहायता करनेवालोंके उपकारको कभी नहीं भूलना चाहिये; उनको पूज्यभावसे अपने हृदयमें स्थान देना चाहिये और सदा उनका आदर करना चाहिये; क्योंकि उच्चकोटिके पुरुष सदा सबका आदर करते हैं। भगवान् भी सम्मानके योग्य होकर भी स्वयं मान नहीं चाहते, दूसरोंको ही मान देते हैं—

'अमानी मानदो मान्यः।'

(महा० अनुशासन० १४९। ९३ का प्रथम चरण)

'भगवान् मान्य होनेपर भी स्वयं अमानी हैं और दूसरोंको मान प्रदान करते हैं।' इसलिये हमें भी स्वयं मान न चाहकर दूसरोंको ही मान देना चाहिये।

उपर्युक्त रामू कहारके दृष्टान्तसे साररूपमें विनय, प्रेम और निष्कामभावयुक्त आदर्श सेवाकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और जीवनमें उसका अनुकरण करना चाहिये।

यह है फलकी ओर दृष्टि न रखकर कर्तव्य-पालन करते रहना। इससे भी बढ़कर वह है जहाँ साध्यकी अपेक्षा भी साधनको ही विशेष आदर दिया जाता है। शास्त्रोंमें मुक्तिके लिये स्त्रियोंको पातिव्रत-धर्मका पालन और पुरुषोंको माता-पिता-गुरुजनोंकी सेवा करना सर्वोत्तम साधन माना गया है।

पातिव्रत-धर्मके विषयमें स्त्रियोंको पद्मपुराणके सृष्टिखण्डके ४७ वें अध्यायमें नरोत्तम ब्राह्मणकी कथाके प्रसङ्गमें वर्णित 'शुभा' नामकी पतिव्रताका तथा पद्मपुराणके भूमिखण्डके अ० ४१ से ५८ तक वर्णित कृकलवैश्यपत्नी 'सुकला' पतिव्रताका आख्यान देखना चाहिये।

माता-पिता-गुरुजनोंकी सेवाके विषयमें श्रीमनुजीने बतलाया है—

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥
त्रिषूप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही।

(२। २३०, २३२ का पूर्वार्ध)

'माता, पिता और आचार्य—ये ही तीनों भूः, भुवः और स्वः लोक हैं। ये ही तीनों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम हैं।

ये ही तीनों ऋक्, यजुः और सामवेद हैं तथा ये ही तीनों दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय अग्नि हैं। इन तीनोंकी सावधानीपूर्वक सेवासे गृहस्थी मनुष्य तीनों लोकोंको जीत लेता है।'

त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(मनु० २। २३७)

'इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कर्तव्य समाप्त हो जाता है यानी उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

सुना गया है कि दक्षिणमें पुण्डलीक नामके एक माता-पिताके भक्त हुए हैं। उन्होंने जब माता-पिताकी सेवाका प्रभाव और माहात्म्य समझा, तब वे अनन्य भावसे अपने माता-पिताकी सेवा करने लगे। वे बादमें माता-पिताके साथ पण्ढरपुरमें जाकर रहने लगे थे। वे प्रातःकाल उठकर शौच-स्नान करके माता-पिताकी सेवा किया करते थे। माता-पिताको शौच-स्नान कराकर अपने हाथसे भोजन बनाकर खिलाया करते थे और उनके भोजन करनेपर भोजन करते थे। उनके जूँठे बरतन माँजते, उनको पहननेके लिये सुन्दर वस्त्र देते और सोनेके लिये बढ़िया शय्या—पलँग और बिछौने दिया करते थे। उनके चरण दबाना, पानी पिलाना, पंखा करना आदि ऋतुके अनुकूल हर प्रकारसे वे माता-पिताको सुख पहुँचाया करते थे। इस प्रकार माता-पिताकी सेवाके ही परायण रहते थे।

एक दिन स्वयं भगवान् उनसे मिलनेके लिये आये और उनके पीछे खड़े हो गये। भगवान्‌ने कहा—'पुण्डलीक! मैं भगवान् हूँ। तुमसे मिलनेके लिये आया हूँ।' पुण्डलीकने इशारेसे चुप रहनेको

कहकर बताया कि मेरे माता-पिता दोनों मेरी जाँघोंपर सिर टेके सोये हैं। ये जग जायँगे। आप चुप रहिये। माता-पिताके जगनेके बाद मैं मिलूँगा। आप बैठिये।' ऐसा कह उन्होंने भगवान्‌के आसनके लिये एक ईंट अपने पीछे रख दी। भगवान् बोले—'मैं तुमसे मिलने आया और तुमको मुझसे मिलनेका अवकाश ही नहीं है?' पुण्डलीकने कहा—'मैंने तो आपको बुलाया नहीं। आप असमयमें क्यों पधारे? आपको समय देखकर आना चाहिये था।' भगवान् बोले—'पुण्डलीक! तुम माता-पिताके भक्त हो। इसलिये मैं तुम्हारे पास आया हूँ।' तब पुण्डलीकने कहा—'क्या माता-पिताकी सेवाका इतना प्रभाव है, जो आपको बिना बुलाये आना पड़ा।' भगवान् बोले—'हाँ, माता-पिताकी सेवाका तो ऐसा ही प्रभाव है।' तब पुण्डलीकने कहा—'जब ऐसा प्रभाव है, तब आप ही बतलाइये, मैं उन माता-पिताकी सेवाको छोड़कर आपसे कैसे मिलूँ? आप कुछ काल प्रतीक्षा करें।' तब भगवान् प्रसन्न होकर उसके सम्मुख आ गये और बोले—'तुमने माता-पिताकी सेवाको मुझसे भी बढ़कर समझा, इसलिये मैं तुम्हारे इस कार्यको देखकर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारी इच्छा हो सो वर माँगो।' पुण्डलीकने यही वर माँगा—'मेरा माता-पिताकी सेवामें परम अचल श्रद्धा-प्रेम बना रहे।' भगवान्‌ने 'तथास्तु'—'ऐसा ही हो'—कहकर पुण्डलीकको वर प्रदान किया।

जिस प्रकार मातृ-पितृ-भक्त पुण्डलीकने माता-पिताकी सेवारूप साधनको परमात्माकी प्राप्तिरूप साध्यसे भी अधिक आदर दिया, इसी प्रकार हमलोगोंको ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि साधनोंको परमात्माकी प्राप्तिसे भी अधिक आदर देना चाहिये। अभिप्राय यह है कि परमात्माकी प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उनमेंसे हम जो भी

साधन करें, उसे अतिशय श्रद्धा, प्रेम और विनयपूर्वक निष्काम तथा गुप्तभावसे निरन्तर कर्तव्य समझकर करें, उसके फलकी ओर कभी ताकें भी नहीं। यदि अपने साधनमें कमी हो तो उसकी सँभाल तो पद-पदपर करनी चाहिये।

यदि हम ज्ञानयोगका साधन कर रहे हैं तो हमें उचित है कि ज्ञान-योगके साधन जो कुछ विस्तारसे गीता अ० १८ श्लोक ५० से ५५ तक बतलाये गये हैं, उनपर दृष्टि डालकर विचार करें। यदि अपने साधनमें उनमेंसे किसी अङ्गकी कमी हो तो उसकी पूर्तिके लिये विशेष जोर लगाना चाहिये। किंतु उस साधनका फल जो परमात्माकी प्राप्ति है, उसकी ओर ध्यान नहीं रखना चाहिये।

इसी प्रकार भक्तियोगके साधकको समझना चाहिये। गीताके बारहवें तथा पंद्रहवें अध्यायमें भक्तियोगका साधन बतलाकर उस भक्तियोगीके लिये भगवान्‌ने सोलहवें अध्यायमें दैवी-सम्पदाके लक्षण बतलाये हैं। इसलिये भक्तियोगीमें दैवी-सम्पदाके लक्षण अवश्य होने चाहिये। भगवान्‌ने गीता अ० ९ श्लो० १३-१४ में कहा भी है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

'परंतु कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षर-स्वरूप जानकर अनन्य-मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं। वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।'

अतः भक्तियोगीको गीता अ० १६ श्लो० १-२-३में बतलाये हुए दैवी-सम्पदाके लक्षणोंको देखकर अपनेमें जिन लक्षणोंकी कमी हो, उसकी पूर्ति करनी चाहिये और फलकी ओर न देखकर अपने साधनमें संलग्न रहना चाहिये।

कर्मयोगीके लिये तो कर्मोंको करना ही प्रधान बतलाया गया है किंतु वे कर्म निष्कामभावसे होने चाहिये। यदि कहीं निष्कामभावमें कमी हो तो उसकी पूर्ति करनी चाहिये, फलकी ओर दृष्टि नहीं रखनी चाहिये। कर्मयोगके विषयमें गीता अ० २ श्लो० ४० से ७२ तक तथा गीता अध्याय ३ सम्पूर्ण एवं इन सबका सार जो गीतातत्त्वविवेचनी टीकामें अ० ३ श्लो० २९ का ३० वें श्लोकके साथ सम्बन्ध बतलाते हुए दिखलाया गया है उसे समझकर तत्परतापूर्वक साधन करना चाहिये। इसी प्रकार अन्य सब साधनोंके विषयमें समझना चाहिये।

यदि साधक किसी भी प्रकारका साधन करते हुए उस साधनके फलको तो नहीं चाहता, किंतु यह समझता है कि साधनका फल तो भगवान् स्वयं ही देंगे अथवा साधन करनेसे उसका फल अपने-आप प्राप्त होगा तो विचार करनेपर पता लगता है कि यह भी कर्मफलका हेतु होनेके कारण फलकी सूक्ष्म वासना ही है। अतः इस प्रकारकी भी इच्छा नहीं करनी चाहिये, वरं अपने साधनको अपना परम कर्तव्य समझकर ही करना चाहिये।

निष्कामताके लिये भक्त प्रह्लादका चरित्र साधकोंके लिये बहुत ही उत्तम आदर्श है। वे भगवान्‌की भक्तिमें ही अत्यन्त तल्लीन थे। एक दिन हिरण्यकशिपुने पूछा—'प्रह्लाद ! इतने दिनोंमें तुमने गुरुजीसे जो शिक्षा प्राप्त की है, उसमेंसे जो तुमको सबसे बढ़कर अभीष्ट हो, वह हमें सुनाओ।' इसपर प्रह्लादने उत्तर दिया—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३-२४)

'भगवान् विष्णुके नाम, गुण, लीला आदिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण, उनके चरणोंकी सेवा, पूजा और वन्दना तथा उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मनिवेदनभाव—इस प्रकार यदि भगवान्‌के प्रति समर्पणके भावसे यह नौ प्रकारकी भक्ति की जाय तो मैं उसीको उत्तम अध्ययन समझता हूँ।'

प्रह्लादजीकी यह बात सुनते ही क्रोधके मारे हिरण्यकशिपुके ओठ फड़कने लगे और फिर वह कहने लगा—'दैत्यो! इसे यहाँसे बाहर ले जाओ और किसी भी उपायसे मार डालो; क्योंकि यह स्वजनका बाना पहनकर मेरा कोई शत्रु ही आया है।' यों कहकर उसने प्रह्लादको बड़े-बड़े मतवाले हाथियोंसे कुचलवाया, विषधर साँपोंसे डँसवाया, पहाड़की चोटीसे नीचे डलवाया, विष पिलवाया, खाना बंद करवा दिया, समुद्रमें डलवाया, आँधीमें छुड़वा दिया तथा पर्वतोंके नीचे दबवा दिया और धधकती आगमें जलवाया आदि-आदि; किंतु इनमेंसे किसी भी उपायसे उन्हें वह न मार सका। प्रह्लादजीका चित्त उन मन-वाणीके अगोचर सर्वात्मा समस्त शक्तियोंके आधार परब्रह्म परमात्मामें लगा हुआ था। इसलिये उनके ऊपर किये हुए सारे प्रहार निष्फल हो गये। यद्यपि हिरण्यकशिपुके द्वारा प्रह्लादको मारनेके लिये अनेक प्रयत्न किये गये, जिनका विस्तृत वर्णन भागवत स्क० ७ अ० ५ में और विष्णुपुराण अंश १ अ० १७-१८ में आता है, किंतु उन्होंने कहीं

भी अपनेको बचानेके लिये या अपने अन्य किसी कार्यके लिये भगवान्‌से याचना नहीं की। जब भगवान्‌ने नृसिंहरूपमें प्रकट होकर हिरण्यकशिपुको मार डाला, तब उन्होंने प्रह्लादसे कहा—'प्रह्लाद ! मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो अभिलाषा हो, मुझसे वर माँग लो।' इस प्रकार प्रलोभनमें डालनेवाले वरोंके द्वारा प्रलोभित किये जानेपर भी भगवान्‌के अनन्यप्रेमी भक्त प्रह्लादने उनकी इच्छा नहीं की; बल्कि वरदान माँगनेको भक्तिमें विघ्न समझकर यही कहा—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥

(श्रीमद्भा० ७। १०। ४का उत्तरार्ध)

'प्रभो ! आपसे जो सेवक अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करनेवाला केवल बनिया है।'

'मैं आपका निष्काम सेवक हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं। जैसे राजा और उनके सेवकोंका प्रयोजनको लेकर स्वामी-सेवकका सम्बन्ध रहता है, वैसा आपका और मेरा सम्बन्ध नहीं है। इसलिये वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ स्वामिन्‌ ! यदि आप मुझे मेरा अभिलषित वर देना चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अङ्कुरित ही न हो—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥

(श्रीमद्भा० ७। १०। ७)

'क्योंकि हृदयमें किसी प्रकारकी भी कामनाका उदय होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति, सत्य—ये सब-के-सब नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं तथा जिस समय मनुष्य अपने मनमें रहनेवाली कामनाओंका परित्याग कर देता है, उसी समय

वह भगवत्स्वरूपको प्राप्त होनेके योग्य हो जाता है।'

भक्त प्रह्लादका कैसा उत्तम निष्कामभाव है! जिस प्रकार प्रह्लादजीने निष्कामभावसे भगवान्‌की भक्ति की, इसी प्रकार हमलोगोंको भी, हम जो भी साधन करें उसमें उच्चकोटिका निष्कामभाव रखना चाहिये।

इस प्रकार जो साधक निष्कामभावपूर्वक साधन करता है, साधनके फलकी ओर दृष्टि न डालकर, अपना कर्तव्य समझकर साधन करता है और साध्यकी अपेक्षा भी साधनको विशेष आदर देता है, उसका साधन बहुत शीघ्र उत्तरोत्तर तीव्र होने लगता है और वह शीघ्र ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

आद्याशक्ति भगवती देवी और ब्रह्मकी एकता

सृष्ट्वाखिलं जगदिदं सदसत्स्वरूपं
शक्त्या स्वया त्रिगुणया परिपाति विश्वम्।
संहृत्य कल्पसमये रमते तथैका
तां सर्वविश्वजननीं मनसा स्मरामि॥

(दे० भा० १।२।५)

महर्षि श्रीवेदव्यासजीने विभिन्न देवताओंके नामसे विभिन्न पुराणोंकी रचना की; इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि संसारमें अनेक प्रकारके उपासक हैं। कोई देवीका उपासक है, कोई शंकरका और कोई विष्णु आदिका। इन सभी उपासकोंको शीघ्र परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाय इसके लिये श्रीवेदव्यासजीने एक-एक

देवताको प्रधानता देकर उन-उन देवताओंके नामसे पुराणोंकी रचना की। उनमें उन्होंने सभी उपासकोंको एक परब्रह्म परमात्माकी ओर ही आकृष्ट किया है।

श्रीशिवपुराणमें बतलाया गया है कि श्रीशिवसे ही ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी उत्पत्ति होती है एवं सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहारकी शक्ति प्रदान करनेवाले भगवान् सदाशिव ही हैं; इसी प्रकार श्रीविष्णुपुराणमें बतलाया गया है कि श्रीविष्णु ही सृष्टिकी उत्पत्ति,पालन और संहार करनेवाले हैं एवं श्रीमद्देवीभागवतमें देवीको आद्याशक्ति बतलाकर ब्रह्मा, विष्णु, महेशका देवीसे ही आविर्भाव और तिरोभाव बतलाया गया है।

यों श्रीशिवपुराणमें श्रीशिवको, श्रीविष्णुपुराणमें श्रीविष्णुको और श्रीमद्देवीभागवतमें भगवती देवीको साक्षात् सच्चिदानन्द ब्रह्म बतलाया गया है। इसी प्रकार सूर्य, गणेश आदि पुराणोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये।

भाव यह कि श्रीशिवके उपासकोंको यह कहा गया है कि श्रीशिव ही सबसे बढ़कर हैं, उनसे बढ़कर कोई नहीं है। श्रीशिव ही ब्रह्मा, विष्णु, महेशके रूपमें प्रकट होकर सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं। वे ही साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं; वे ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार और सर्वश्रेष्ठ हैं। अतः श्रीशिवके उपासकको श्रीशिवसे बढ़कर किसी भी देवता आदिको नहीं समझना चाहिये। इसी प्रकार श्रीविष्णुके उपासकके लिये यह बतलाया गया है कि श्रीविष्णु ही सर्वोपरि देवता हैं, उनसे बढ़कर अन्य कोई नहीं है। श्रीविष्णु ही ब्रह्मा, विष्णु, महेशके रूपमें संसारका उत्पादन, पालन और संहार करते हैं। अतः वे ही परम उपास्य हैं।

श्रीवेदव्यासजीके उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यही है कि शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सभी उपासक अपने-अपने इष्टदेवको सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वश्रेष्ठ पूर्णब्रह्म परमात्मा मानकर अपने इष्टदेवमें ही एकनिष्ठा रखें और उन्हींकी अनन्यभावसे उपासना करें। पुराणोंको देखनेपर यही सिद्ध होता है कि उनके प्रतिपाद्य देवताओंके नाम और रूप तो भिन्न-भिन्न हैं, परंतु लक्ष्य एक पूर्ण ब्रह्म परमात्माका ही रखा गया है; क्योंकि उन-उन देवताओंके गुण, प्रभाव, लक्षण, महिमा और स्तुति-प्रार्थनाका वर्णन करते हुए प्रत्येक देवताको ब्रह्मका रूप दिया गया है। अतः वास्तवमें एक परब्रह्म परमात्माकी ही उपासना अनेक प्रकारसे कही गयी है। नहीं तो, उपासक नाना प्रकारके मत-मतान्तरोंको मानकर यदि उन सबके अनुसार अनुष्ठान करने लगे तो वह किसी एकमें भी सुदृढ़ निष्ठावान् नहीं बन पाता और उसका साधन छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसीलिये श्रीवेदव्यासजीने सम्पूर्ण संसारपर कृपा करके पुराणोंके द्वारा उन सब उपासकोंको एकनिष्ठ करते हुए एक परब्रह्म परमात्माकी ओर ही आकृष्ट किया है।

श्रीमद्देवीभागवतमें वेदोंने भगवती देवीकी स्तुति करते हुए कहा है—

नमो देवि महामाये विश्वोत्पत्तिकरे शिवे।
निर्गुणे सर्वभूतेशि मातः शंकरकामदे॥
त्वं भूमिः सर्वभूतानां प्राणः प्राणवतां तथा।
धीः श्रीः कान्तिः क्षमा शान्तिः श्रद्धामेधा धृतिः स्मृतिः॥
त्वमुद्गीथेऽर्धमात्रासि गायत्रीव्याहृतिस्तथा।
जया च विजया धात्री लज्जा कीर्तिः स्पृहा दया॥

(१।५।५३—५५)

'देवी ! आप महामाया हैं, जगत्‌की सृष्टि करना आपका स्वभाव है, आप कल्याणमय विग्रह धारण करनेवाली एवं निर्गुणा हैं, अखिल जगत् आपका शासन मानता है तथा भगवान् शंकरके आप मनोरथ पूर्ण किया करती हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंको आश्रय देनेके लिये आप पृथ्वीस्वरूपा हैं, प्राणधारियोंके प्राण भी आप ही हैं। धी, श्री, कान्ति, क्षमा, शान्ति, श्रद्धा, मेधा, धृति और स्मृति— ये सभी आपके नाम हैं। ॐकारमें जो अर्धमात्रा है, वह आपका ही निर्विशेष रूप है। गायत्रीमें आप प्रणव हैं। जया, विजया, धात्री, लज्जा, कीर्ति, स्पृहा और दया—इन नामोंसे आप प्रसिद्ध हैं। माता ! हम आपको नमस्कार करते हैं।'

श्रीसूतजीने भी ऋषियोंसे बतलाया है—

विद्वांसोऽपि वदन्त्येवं पुराणैः परिगीयते।
द्रुहिणे सृष्टिशक्तिश्च हरौ पालनशक्तिता॥
हरे संहारशक्तिश्च सूर्ये शक्तिः प्रकाशिका।
धराधरणशक्तिश्च शेषे कूर्मे तथैव च॥
साऽऽद्याशक्तिः परिणता सर्वस्मिन् या प्रतिष्ठिता।
दाहशक्तिस्तथा वह्नौ समीरे प्रेरणात्मिका॥
एवं सर्वगता शक्तिः सा ब्रह्मेति विविच्यते।
सोपास्या विविधैः सम्यग् विचार्या सुधिया सदा॥
यजन्ति यज्ञान् विविधान् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
ते वै शक्तिं परां देवीं ब्रह्माख्यां परमात्मिकाम्॥
ध्यायन्ति मनसा नित्यं नित्यां मत्वा सनातनीम्॥
तस्माच्छक्तिः सदा सेव्या विद्वद्भिः कृतनिश्चयैः।

(दे० भा० १। ८। २८—३०, ३४, ४६—४८)

'विद्वान् पुरुष भी ऐसा कहते हैं और पुराणोंने भी घोषणा की है कि ब्रह्ममें जो सर्जनशक्ति है, विष्णुमें जो पालनशक्ति है तथा शिवमें जो संहारशक्ति है एवं सूर्यमें जो प्रकाशन-शक्ति है तथा शेष और कच्छपमें जो पृथ्वीको धारण करनेकी शक्ति है, अग्निमें जलानेकी और वायुमें जो हिलाने-डुलानेकी शक्ति है—यों सबमें जो शक्ति विद्यमान है, वही आद्याशक्ति है। इस प्रकार सबमें व्यापक रहनेवाली उस आद्याशक्तिका ही 'ब्रह्म' इस नामसे निरूपण किया गया है। अतएव बुद्धिमान् पुरुषको भलीभाँति विचारकर अनेक प्रकारसे सदा उस आद्याशक्तिकी ही उपासना करनी चाहिये। ब्रह्मा, विष्णु, महेश उन परब्रह्मस्वरूपिणी भगवती पराशक्ति देवीको नित्य सनातनी समझकर नानाविध यज्ञोंका अनुष्ठान करते और मनसे सदा उनका ध्यान करते हैं। अतः विद्वान् पुरुषोंको चाहिये कि वे दृढ़ निश्चयपूर्वक सदा उन चिन्मयी परमा आद्याशक्तिकी ही उपासना करें।'

आराध्या परमा शक्तिः सर्वैरपि सुरासुरैः।
नातः परतरं किंचिदधिकं भुवनत्रये॥
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं वेदशास्त्रार्थनिर्णयः।
पूजनीया परा शक्तिर्निर्गुणा सगुणाथवा॥

(दे० भा० १।९।८६-८७)

'सभी देवता और दानवोंके लिये ये चिन्मयी परमा शक्ति ही आराधना करनेयोग्य हैं। त्रिलोकीमें इन भगवतीसे बढ़कर अन्य कोई भी नहीं है। यह बात सत्य है, सत्य है। वेद और शास्त्रोंका भी यही सच्चा तात्पर्य-निर्णय है कि निर्गुण अथवा सगुणरूपा चिन्मयी पराशक्ति ही पूजनीय हैं।'

यही नहीं, स्वयं भगवती देवीने ही भगवान् विष्णुसे कहा है—

सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम्।

(दे० भा० १।१५।५२)

'यह सारा जगत् मैं ही हूँ, मेरे सिवा दूसरी कोई अविनाशी वस्तु नहीं है।'

यह आधा श्लोक ही श्रीमद्देवीभागवतका मूल-वचन है। इसमें यही प्रतिपादन किया गया है कि भगवती देवी ही वह सनातन परब्रह्म-तत्त्व है, जिसका वर्णन उपनिषद्में **सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छान्दोग्य० ३।१४।१)—'यह सब निश्चय ही ब्रह्म है।' यों कहकर किया गया है और गीतामें **'वासुदेवः सर्वमिति'** (७।१९)—'यह सब कुछ वासुदेव ही है,' **'सदसच्चाहमर्जुन'** (९।१९)—'अर्जुन! सत्, असत् सब कुछ मैं ही हूँ' तथा **'मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय'** (७।७)—**'अर्जुन!** मुझसे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है'—इन वाक्योंके द्वारा किया गया है।

भगवती देवीने ब्रह्माजीसे भी इसी तत्त्वका वर्णन किया है—

सदेकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदैव ममास्य च।
योऽसौ साहमहं यासौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात्॥
आवयोरन्तरं सूक्ष्मं यो वेद मतिमान् हि सः।
विमुक्तः स तु संसारान्मुच्यते नात्र संशयः॥

(दे० भा० ३।६।२-३)

'मैं और ब्रह्म एक ही हैं। मुझमें और इन ब्रह्ममें कभी किंचिन्मात्र भी भेद नहीं है। जो वे हैं, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वही वे हैं। बुद्धिके भ्रमसे भेद प्रतीत हो रहा है। जो बुद्धिमान् पुरुष हमलोगोंके सूक्ष्म भेदको जानता है, वही मुक्त है। उसके इस संसार-सागरसे मुक्त होनेमें कुछ भी संदेह नहीं है।'

सर्वमेवाहमित्येवं निश्चयं विद्धि पद्मज ॥
नूनं सर्वेषु देवेषु नानानामधरा ह्यहम्।

× × ×

भवामि शक्तिरूपेण करोमि च पराक्रमम् ॥
गौरी ब्राह्मी तथा रौद्री वाराही वैष्णवी शिवा।
वारुणी चाथ कौवेरी नारसिंही च वासवी ॥
जले शीतं तथा वह्नावौष्ण्यं ज्योतिर्दिवाकरे।
निशानाथे हिमा कामं प्रभवामि यथा तथा ॥

(दे० भा० ३। ६। ११, १३, १४—१६)

'ब्रह्माजी ! सब मैं ही हूँ; इसे निश्चयपूर्वक जान लेना चाहिये। सम्पूर्ण देवताओंमें मैं विभिन्न नामोंसे विख्यात हूँ—यह निश्चित बात है। मैं शक्तिरूप धारण करके पराक्रम करती हूँ। गौरी, ब्राह्मी, रौद्री, वाराही, वैष्णवी, शिवा, वारुणी, कौवेरी, नारसिंही और वासवी—सभी मेरे ही रूप हैं। जलमें शीतलता, अग्निमें उष्णता, सूर्यमें ज्योति एवं चन्द्रमामें शीतलताका विस्तार करनेकी योग्यता जिस प्रकार बनी रहे, वैसी व्यवस्था करके मैं ही स्वेच्छानुसार उनके भीतर प्रविष्ट होती हूँ।'

श्रीब्रह्माजीने नारदजीसे कहा है—

एकरूपौ चिदात्मानौ निर्गुणौ निर्मलावुभौ ॥
या शक्तिः परमात्मासौ योऽसौ सा परमा मता।
अन्तरं नैतयोः कोऽपि सूक्ष्मं वेद च नारद ॥

(दे० भा० ३। ७। १४-१५)

'नारद ! वे परमात्मा और आद्याशक्ति दोनों एकरूप चिन्मय-स्वरूप, निर्गुण और निर्मल हैं। जो शक्ति है, वही परमात्मा है और जो परमात्मा है, वही शक्ति है—ऐसा सिद्धान्त है। इनके सूक्ष्म

रहस्ययुक्त अन्तरको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जान पाता।'

भगवती देवीने अपने अवतार लेनेका प्रयोजन बतलाते हुए स्वयं कहा है—

साधूनां रक्षणं कार्यं हन्तव्या येऽप्यसाधवः।
वेदसंरक्षणं कार्यमवतारैरनेकशः॥
युगे युगे तानेवाहमवतारान् बिभर्मि च।

(दे० भा० ५। १५। २२-२३)

'श्रेष्ठ पुरुषोंकी रक्षा करना, वेदोंको सुरक्षित रखना और जो दुष्ट हैं, उन्हें मारना—ये मेरे कार्य हैं, जो अनेक अवतार लेकर मेरेद्वारा किये जाते हैं। प्रत्येक युगमें मैं ही उन-उन अवतारोंको धारण करती हूँ*।'

भगवती देवीने हिमालय गिरिसे अपना तात्त्विक स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया है—

अहमेवासं पूर्वं तु नान्यत् किंचिन्नगाधिप।
तदात्मरूपं चित्संवित्परब्रह्मैकनामकम्॥
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यमनौपम्यमनामयम्।
तस्य काचित् स्वतः सिद्धा शक्तिर्मायेति विश्रुता॥

(दे० भा० ७। ३२। २-३)

'पर्वतराज! पहले केवल मैं ही थी, मेरे सिवा दूसरी कोई वस्तु

---

* गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णने प्रायः ऐसा ही कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(४। ८)

'श्रेष्ठ पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी भलीभाँति स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

नहीं थी*। उस समय मेरा वह रूप चेतन, विज्ञान-आनन्दमय अद्वितीय परब्रह्म था। वह रूप अप्रतर्क्य, अनिर्देश्य, अनौपम्य और अनामय है। उसीसे कोई एक शक्ति स्वतः प्रकट हो गयी। उसीका नाम 'माया' प्रसिद्ध हुआ।'

मन्मायाशक्तिसंकल्पं जगत्सर्वं चराचरम्।
सापि मत्तः पृथङ्माया नास्त्येव परमार्थतः॥
व्यवहारदृशा सेयं विद्या मायेति विश्रुता।
तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम्॥
मयि सर्वमिदं प्रोतमोतं च धरणीधर।
ईश्वरोऽहं च सूत्रात्मा विराडात्माहमस्मि च॥
ब्रह्माहं विष्णुरुद्रौ च गौरी ब्राह्मी च वैष्णवी॥
सूर्योऽहं तारकाश्चाहं तारकेशस्तथास्म्यहम्।
यच्च किंचित् क्वचिद् वस्तु दृश्यते श्रूयतेऽपि वा॥
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्याहं सर्वदा स्थिता।
न तदस्ति मया त्यक्तं वस्तु किंचिच्चराचरम्॥

(देवी भा० ७। ३३। १-२, १२—१४, १६-१७)

'हिमालय मेरी माया-शक्तिने सम्पूर्ण चराचर जगत्की रचना की है। परमार्थ-दृष्टिसे तो वह माया भी मुझसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। व्यवहारकी दृष्टिसे वही यह विद्या और माया नामसे प्रसिद्ध है। तत्त्वदृष्टिसे पृथक् कुछ नहीं। तत्त्व केवल एक ही है। (वह तत्त्व मैं

---

* छान्दोग्य-उपनिषद्में श्रीआरुणिने श्वेतकेतुके प्रति भी प्रायः ऐसा ही कहा है—
'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।'
(६। २। १)
'सोम्य! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् (परमात्मा) ही था।'

हूँ, जो सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करके फिर अपने असली स्वरूप-तत्त्वमें विलीन हो जाती हूँ।) धरणीधर ! मुझमें ही यह सम्पूर्ण चराचर ओत-प्रोत है। ईश्वर, सूत्रात्मा और विराट् आत्मा मैं ही हूँ। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गौरी, सरस्वती, लक्ष्मी मेरे ही रूप हैं तथा मैं ही सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रगण हूँ। जो कोई भी वस्तु जहाँ भी देखने एवं सुननेमें आती है—चाहे वह भीतर हो या बाहर, उन सबमें व्यापकरूपसे सदा मैं ही स्थित रहती हूँ। चराचर कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो मुझसे अलग हो।'

इस प्रकार भगवती देवीने स्वयं ही अपनेको परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न सिद्ध किया है। उस परब्रह्मस्वरूपा भगवती देवीके दो स्वरूप हैं—(१) निर्गुण और (२) सगुण। सगुणके भी दो भेद हैं—(१) निराकार और (२) साकार। इस आद्याशक्तिसे सारे संसारकी उत्पत्ति होती है। उपनिषदोंमें इसी आद्याशक्तिको पराशक्तिके नामसे कहा गया है—

देवी ह्येकाग्र आसीत्। सैव जगदण्डमसृजत्·····। तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्। गन्धर्वाप्सरसः किन्नरा वादित्रवादिनः समन्तादजीजनन्। भोग्यमजीजनत्। सर्वमजीजनत्। सर्वं शाक्त-मजीजनत्। अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजं यत् किं चैतत् प्राणिस्थावरजङ्गमं मनुष्यमजीजनत्। सैषा परा शक्तिः।

(बह्वृचोपनिषद्)

'सृष्टिके आदिमें एक देवी ही थी, उसने ही ब्रह्माण्ड उत्पन्न किया। उसी पराशक्तिसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र उत्पन्न हुए। उसीसे सब मरुद्गण, गन्धर्व, अप्सराएँ और बाजे बजानेवाले किन्नर सब ओरसे उत्पन्न हुए। समस्त भोग्य-पदार्थ और अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज,

जरायुज—जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम मनुष्यादि प्राणिमात्र हैं, वे सब उसी पराशक्तिसे उत्पन्न हुए। ऐसी वह पराशक्ति है।'

ऋग्वेदमें भगवती कहती हैं—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥

(मं० १०, अ० १०, सू० १२५। १)

'मैं रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वेदेवोंके रूपमें विचरती हूँ। वैसे ही मैं मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और अश्विनीकुमारोंके रूपको धारण करती हूँ।'

ब्रह्मसूत्रमें भी कहा गया है—

सर्वोपेता च तद्दर्शनात्। (२। १। ३०)

'वह पराशक्ति सर्वसामर्थ्यसे युक्त है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।'

यहाँ भी ब्रह्मका वाचक स्त्रीलिङ्ग शब्द आया है। ब्रह्मकी व्याख्या शास्त्रमें स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग आदि सभी लिङ्गोंमें की गयी है। इसी पराशक्तिको महेश्वरी, जगदीश्वरी, परमेश्वरी भी कहते हैं। लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा आदि इसी शक्तिके रूप हैं। माया, महामाया, मूलप्रकृति, विद्या, अविद्या आदि भी इसीके रूप हैं।

जिस प्रकार अन्यान्य पुराण आदि शास्त्रोंमें भगवान्‌के विराट्-रूपका वर्णन मिलता है, उसी प्रकार परब्रह्मस्वरूपा भगवती देवीका भी विराट्‌रूप देवीभागवत स्कन्ध ७, अध्याय ३३में वर्णित है।

इन सब वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि देवीभागवतपुराणमें उस परब्रह्म परमात्माका ही देवीके नामसे उल्लेख किया गया है। विज्ञानानन्दघन ब्रह्मका तत्त्व अति सूक्ष्म और गुह्य होनेके कारण

शास्त्रोंमें उसे नाना प्रकारसे समझाया गया है। अतः देवीके नामसे परब्रह्म परमात्माकी उपासना करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। उस एक ही परमात्मतत्त्वकी निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, देव, देवी, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, राम, कृष्ण आदि अनेक नाम-रूपोंसे भक्तलोग उपासना करते हैं। जो मनुष्य तत्त्व-रहस्यको जानकर शास्त्रों और महापुरुषोंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार निष्कामभावसे उपासना करते हैं, उन सभी साधकोंको उन परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। उन दयासागर प्रेममय सगुण-निर्गुणरूप परमेश्वरको सर्वोपरि, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, सम्पूर्ण गुणाधार, निर्विकार, नित्य विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे उपासना करना ही उनके तत्त्व-रहस्यको जानकर उपासना करना है। इसलिये देवीके उपासकोंको भगवती आद्याशक्तिको साक्षात् सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे उनकी उपासना करनी चाहिये।

भगवदर्थ कर्म और भगवान्‌की दयाका रहस्य

समस्त प्राणी, पदार्थ, क्रिया और भावका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ जोड़कर साधन करनेसे साधकके हृदयमें उत्साह, समता, प्रसन्नता, शान्ति और भगवान्‌की स्मृति हर समय रह सकती है। इससे भगवान्‌में परम श्रद्धा-प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति सहज ही हो सकती है। जो कुछ भी है—सब भगवान्‌का है और मैं भी भगवान्‌का हूँ, भगवान् सबमें व्यापक हैं (गीता १८। ४६), इसलिये सबकी सेवा ही भगवान्‌की सेवा है, मैं जो कुछ कर रहा हूँ, भगवान्‌की प्रेरणाके अनुसार भगवान्‌के लिये ही कर रहा हूँ, भगवान् ही मेरे परम प्यारे और परम हितैषी हैं—इस प्रकारके भावसे अपने घर या दूकानके कामको अथवा किसी भी धार्मिक संस्थाके कामको अपने प्यारे भगवान्‌का ही काम समझकर और स्वयं भगवान्‌का ही होकर काम करनेसे साधकको कभी उकताहट नहीं आती, प्रत्युत चित्तमें उत्साह, प्रसन्नता और शान्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। यदि नहीं बढ़ती है तो गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये कि इसमें क्या कारण है। खोज करनेपर पता लगेगा कि श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही इसमें कारण है। इस कमीकी निवृत्तिके लिये साधकको भगवान्‌के शरण होकर उनसे करुणापूर्वक स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये और भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझना चाहिये।

गीताप्रचारका काम तो प्रत्यक्ष भगवान्‌का ही काम है; इसमें कोई शङ्काकी बात नहीं है। जो मनुष्य श्रीमद्भगवद्गीताके अर्थ और भावको समझकर गीताका प्रचार करता है, तो उससे उसका उद्धार हो जाता है

और भगवान् उसपर बहुत ही प्रसन्न होते हैं। इसके लिये गीता अ० १८ श्लो० ६८-६९ को देखना चाहिये—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

जो मनुष्य इन दोनों श्लोकोंके अर्थ और भावको भलीभाँति समझ जाता है, उसका तो सारा जीवन गीताप्रचारमें ही व्यतीत होना चाहिये। वर्तमानमें जो कुछ भी गीताका प्रचार हमारे देखने-सुननेमें आता है, उसका भी प्रधान कारण इन दो श्लोकोंके अर्थ और भावको जाननेका प्रभाव ही है।

अतः गीताप्रचारका कार्य भगवान्‌का ही कार्य है और यह भगवान्‌की विशेष कृपासे ही प्राप्त होता है। रुपये खर्च करनेसे यह नहीं मिलता।

भगवान्‌का काम करना—उनकी आज्ञाका पालन करना भगवान्‌की ही सेवा है। वास्तवमें इस कामको भगवान्‌की सेवा समझकर करनेसे अवश्य ही प्रसन्नता तथा शान्ति प्राप्त हो सकती है। यदि नहीं मिलती है तो उसने इस कामको भगवान्‌की सेवा समझा ही नहीं। यदि कोई मनुष्य महात्माको महात्मा जानकर उनके कार्यको,

उनकी आज्ञाके पालनको उनकी सेवा समझकर करता है तो उसके हृदयमें भी इतना आनन्द होता है कि वह उसमें समाता ही नहीं, तो फिर भगवान्‌की सेवासे परम प्रसन्नता और शान्ति प्राप्त हो इसमें तो कहना ही क्या है।

गीताप्रचारका कार्य करनेवालोंके चित्तमें यदि भगवान्‌की स्मृति, प्रसन्नता, उत्साह, प्रेम और शान्ति नहीं रहती है तो उन्हें इसके कारणकी खोज करनी चाहिये, एवं जो दोष समझमें आये उसको भगवान्‌की दयाका आश्रय लेकर हटाना चाहिये। भगवान्‌की दया सबपर अपार है, उसको पूर्णतया न समझनेके कारण ही हमलोग प्रसन्नता और शान्तिकी प्राप्तिसे वञ्चित रहते हैं। हमलोगोंपर भगवान्‌की जो अपार पूर्ण दया है, उसके शतांशको भी हम नहीं समझते हैं। किंतु न समझमें आनेपर भी हमलोगोंको अपने ऊपर भगवान्‌की अपार दया मानते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे वह आगे जाकर समझमें आ सकती है।

दयाके इस तत्त्वको भलीभाँति समझनेके लिये यहाँ एक दृष्टान्त बतलाया जाता है। वह इस प्रकार है—एक क्षत्रिय बालक राज्यकी सहायता और व्यवस्थासे एक महाविद्यालयमें अध्ययन करता था। उसके माता-पिता उसे सदा यही उपदेश दिया करते थे कि 'इस देशके राजा उच्चकोटिके ज्ञानी योगी महापुरुष हैं, वे हेतुरहित प्रेमी और दयालु हैं, उनकी हमलोगोंपर बड़ी भारी दया है। हमलोगोंका देहान्त हो जाय तो तुम चिन्ता न करना; क्योंकि महाराजसाहबकी दया तुमपर हमलोगोंकी अपेक्षा अतिशय अधिक है।' माता-पिताके इस उपदेशके अनुसार वह ऐसा ही मानता था। समय आनेपर उसके माता-पिता चल बसे, परंतु वह बालक दुःखित नहीं हुआ। विद्यालयके सहपाठी बालकोंने उससे पूछा—'तुम्हारे माता-पिता मर गये, फिर भी तुम्हारे

चेहरेपर खेद नहीं, क्या बात है ? अब तुम्हारा पालन-पोषण कौन करेगा ?' क्षत्रिय बालकने कहा—'मुझे शोक क्यों होता ? क्योंकि मेरे माता-पितासे भी बढ़कर मुझपर दया और प्रेम करनेवाले हमारे परम हितैषी महाराजसाहब हैं। महाराजसाहब उच्चकोटिके भक्त एवं ज्ञानी महापुरुष हैं। मैं तो उन्हींपर निर्भर हूँ। बालककी यह बात सुनकर वहाँके प्रधानाध्यापकको बड़ा आश्चर्य हुआ कि देखो, इस बालकके हृदयमें महाराजसाहबके प्रति कितनी श्रद्धा-भक्ति है। वे प्रधानाध्यापक राज्यकी कौंसिलके सदस्य थे। एक दिन जब कौंसिलकी बैठक हुई, तब वे भी उसमें उपस्थित थे। उस दिन महाराजसाहबने कहा—'अपने देशमें कोई अनाथ बालक हो तो बतलायें, उसका प्रबन्ध राज्यकी ओरसे सुचारुरूपसे हो जाना उचित है।' कौंसिलके कई सदस्योंने उसी क्षत्रिय बालकका नाम बतलाया। इसपर राजाने सबकी सम्मतिसे उस बालकके लिये खाने-पीनेका सब प्रबन्ध कर दिया और उसके कच्चे घरको पक्का बनानेका आदेश दे दिया। पढ़ाईका प्रबन्ध तो पहलेसे ही राज्यकी ओरसे था ही।

कुछ ही दिनों बाद जब राजाकी आज्ञासे राजकर्मचारी उसके कच्चे घरको पक्का बनानेके लिये तोड़ रहे थे, तब उस क्षत्रिय बालकके एक सहपाठीने दौड़कर उसे सूचना दी कि तुम्हारे घरको राजकर्मचारी तोड़कर बर्बाद कर रहे हैं। यह सुनकर वह बालक बहुत प्रसन्न हुआ और कहने लगा—'अहा ! महाराजसाहबकी मुझपर बड़ी ही दया है। सम्भव है, वे पुराना तुड़वाकर नया घर बनवायेंगे !' उसकी यह बात सुनकर प्रधानाध्यापक आश्चर्यचकित हो गये और सोचने लगे—'देखो, इस बालकको कितना प्रबल विश्वास है। महाराजपर कितनी अटूट श्रद्धा है।'

पुनः जब दूसरी बार कौंसिलकी बैठकमें प्रधानाध्यापक सम्मिलित हुए, तब राजाने यह प्रस्ताव रखा—'मैं वृद्ध हो गया हूँ। मेरे संतान नहीं हैं। अतः युवराजपद किसको दूँ ? इसके योग्य कौन है ? इसपर प्रधानाध्यापकने बतलाया—वह क्षत्रिय बालक गुण, आचरण, विद्या और स्वभावमें सबसे बढ़कर है। वह राजभक्त है और आपपर तो उसकी अपार श्रद्धा है।' इस बातका दूसरे सदस्योंने भी प्रसन्नतापूर्वक समर्थन किया। राजाने सर्वसम्मतिसे उस क्षत्रिय बालकको ही युवराजपद दे दिया।

दूसरे दिन राजाके मन्त्री और कुछ उच्चपदाधिकारी उस क्षत्रिय बालकके घरपर गये। उन सबको आते देख उस क्षत्रिय बालकने उनका अत्यन्त आदर-सत्कार किया और कहा—'मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' पदाधिकारियोंने कहा—'महाराजसाहबकी आपपर बड़ी भारी दया है।' बालक बोला—'यह मैं पहलेसे ही जानता हूँ कि महाराजकी मुझपर अपार दया है। इसी कारण आपलोगोंकी भी मुझपर बड़ी दया है।' पदाधिकारियोंने कहा—'हम तो आपके सेवक हैं, आपकी दया चाहते हैं।' बालक बोला—'आप ऐसा कहकर मुझे लज्जित न कीजिये। मैं तो आपका सेवक हूँ। महाराजसाहबकी मुझपर दया है—इसको मैं अच्छी तरह जानता हूँ।' पदाधिकारियोंने कहा—'आप जो जानते हैं उससे कहीं बहुत अधिक उनकी दया है।' क्षत्रिय बालकने पूछा—'क्या महाराजसाहबने मेरे विवाहका प्रबन्ध कर दिया है ?' तब उन्होंने कहा—'विवाहका प्रबन्ध ही नहीं, महाराजसाहबकी तो आपपर अतिशय दया है।' बालकने पुनः पूछा—'क्या महाराजसाहबने मुझको दो-चार गाँवोंकी जागीरदारी दे दी है ?' पदाधिकारियोंने कहा—'यह तो कुछ नहीं, उनकी आपपर जो दया है, उसकी आप कल्पना भी नहीं

कर सकते।' इसपर बालकने निवेदन किया—'उनकी मुझपर कैसी दया है, इसे आप ही कृपा करके बतलाइये।' उन्होंने कहा—'आपको महाराजसाहबने युवराजपद दे दिया है। इसलिये हम आपकी दया चाहते हैं।' यह सुनकर क्षत्रिय बालक हर्षमें इतना मुग्ध हो गया कि उसे अपने-आपका भी होश नहीं रहा।

इस दृष्टान्तको अध्यात्मविषयमें यों घटाना चाहिये कि भगवान् ही ज्ञानी महापुरुष राजा हैं। श्रद्धालु साधक ही क्षत्रिय बालक है। उपदेश देनेवाले गुरुजन ही माता-पिता हैं। सत्सङ्गी साधकगण ही सहपाठी बालक हैं। भगवत्प्रेमी महापुरुष ही कौंसिलके सदस्य प्रधानाध्यापक हैं। राज्यकी ओरसे बालकके खान-पानका प्रबन्ध कराये जानेको लोकदृष्टिसे अनुकूल परिस्थितिकी प्राप्ति और घर तुड़वाये जानेको लोकदृष्टिसे प्रतिकूल परिस्थितिकी प्राप्ति समझना चाहिये तथा इन दोनोंमें बालकके द्वारा राजाका मङ्गलविधान मानकर प्रसन्न होनेको प्रत्येक घटनामें भगवान्‌का मङ्गलमय विधान मानकर प्रसन्न होना समझना चाहिये। बालकका राजाको सुहृद् मानकर उनपर निर्भरता, श्रद्धा और विश्वास करना ही भगवत्-शरणागतिका साधन समझना चाहिये।

इस दृष्टान्तसे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हमलोग अपने ऊपर भगवान्‌की जितनी दया मानते हैं, भगवान्‌की दया उससे कहीं बहुत अधिक है। भगवान्‌की हमपर इतनी दया है कि उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यदि हम उस दयाको जान जायँ तो क्षत्रिय बालककी भाँति हमें इतना आनन्द और प्रसन्नता हो कि उसकी सीमा ही न रहे; फिर हमें अपने-आपका भी ज्ञान न रहे।

अतः हमें स्वेच्छा, अनिच्छा या परेच्छासे जो कुछ भी प्राप्त हो,

उसे भगवान्‌का दयापूर्ण मङ्गलमय विधान समझकर और अपनेद्वारा होनेवाली क्रियाओंको भगवान्‌का काम तथा भगवान्‌की परम सेवा समझकर हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए आनन्दमें मग्न रहना चाहिये।

इस प्रकार भगवद्भक्तिके साधनसे साधकके चित्तमें प्रसन्नता, रोमाञ्च और अश्रुपात होने लगता है, हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, वाणी गद्‌गद हो जाती है तथा कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है। किंतु मनुष्य जब साधन करते-करते सिद्धावस्थामें पहुँच जाता है—भगवान्‌को पा लेता है, तब वह आमोद, प्रमोद, हर्ष आदिसे ऊपर उठकर परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त कर लेता है। जैसे कड़ाहीमें घी डालकर उसमें कचौड़ी सेंकी जाती है, वह जबतक कच्ची रहती है तबतक तो उछलती है— उसमें विशेष क्रिया होती रहती है; किंतु जब वह पकने लगती है, तब उसका उछलना कम हो जाता है और सर्वथा पक जानेपर तो वह शान्त और स्थिर हो जाती है। इसी प्रकार साधन करते समय साधकमें जबतक कच्चाई रहती है, तबतक वह साधन-विषयक आमोद-प्रमोदमें उछलता रहता है एवं उसके रोमाञ्च, अश्रुपात और कण्ठावरोध होता रहता है; किंतु जब साधन पकने लगता है, तब हर्षादि विकारोंका उफान कम हो जाता है और सर्वथा पक जानेपर वह आमोद, प्रमोद, हर्ष आदि विकारोंसे रहित परम शान्त हो जाता है। फिर वह परमात्मामें अचल और स्थिर होकर परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

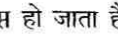

चतुःश्लोकी भागवत

ब्रह्माजीकी निष्कपट तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें अपने रूपका दर्शन कराया और आत्मतत्त्वके ज्ञानके लिये उन्हें परम सत्य परमार्थवस्तुका उपदेश किया। वही उपदेश 'चतुःश्लोकी भागवत' के नामसे प्रसिद्ध है।

जब ब्रह्माजी अपने जन्मस्थान कमलपर बैठकर सृष्टि करनेकी इच्छासे विचार करने लगे, परंतु जिस ज्ञानदृष्टिसे सृष्टिका निर्माण हो सकता था, वह दृष्टि उन्हें प्राप्त नहीं हुई, तब उनके सोच-विचार करते समय एक दिन अकस्मात् प्रलयकी उस अनन्त जलराशिमें उन्हें दो अक्षरोंका एक शब्द दो बार सुनायी पड़ा। उसका पहला अक्षर तो 'त' था और दूसरा 'प'। अर्थात् उन्होंने 'तप-तप' ऐसा सुना। इसे तप करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा मानकर और उसीमें अपना परम हित समझकर उन्होंने एक हजार दिव्य वर्षपर्यन्त तपस्या की। उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें अपना परमधाम (वैकुण्ठलोक) दिखलाया। उस परम दिव्य लोकका और उसमें भगवान्‌का दर्शन करके ब्रह्माजीका हृदय आनन्दसे भर गया, शरीर पुलकित हो गया और नेत्रोंमें प्रेमाश्रु छलक आये। फिर ब्रह्माजीने भगवान्‌के चरणकमलोंमें सिर झुकाकर प्रणाम किया। उस समय भगवान् बहुत प्रसन्न हुए एवं उन्होंने बड़े प्रेमसे ब्रह्माजीका हाथ पकड़ लिया और कहा—'ब्रह्मन्! तुम्हारी जो अभिलाषा हो, वही वर मुझसे माँग लो'।

तब ब्रह्माजीने प्रार्थना की—'भगवन्! आप समस्त प्राणियोंके स्वामी हैं, सबके हृदयमें आप अन्तर्यामीरूपसे विराजमान रहते हैं। आप अपने दिव्य ज्ञानसे यह जानते ही हैं कि मैं क्या करना चाहता हूँ। फिर भी आपसे मैं यह याचना कर रहा हूँ। आप कृपा करके मेरी माँग पूरी कीजिये। प्रभो! आप रूपरहित हैं; तथापि मैं आपके सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपोंको जान सकूँ, ऐसी कृपा कीजिये। आप मायाके स्वामी हैं, आपका संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होता। जैसे मकड़ी अपने मुँहसे जाला निकालकर उसमें क्रीड़ा करती है और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेती है, वैसे ही आप अपनी मायाको स्वीकार करके इस विविध शक्तिसे युक्त जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेके लिये अपने-आपको ही अनेक रूपोंमें बना लेते हैं और क्रीड़ा करते हैं। इस प्रकार आप कैसे करते हैं— इस मर्मको मैं जान सकूँ, ऐसा ज्ञान आप मुझे दीजिये। आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं सावधानीपूर्वक आपकी आज्ञाका पालन कर सकूँ और सृष्टिकी रचना करते समय भी कर्तापन आदिके अभिमानसे रहित रहूँ।'

ब्रह्माजीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने उन्हें भागवतका साररूप निम्नलिखित उपदेश किया, जो श्रीमद्भागवतके दूसरे स्कन्धके नवें अध्यायके तीसवेंसे छत्तीसवें श्लोकोंमे वर्णित है। इन सात श्लोकोंमें प्रथम दो श्लोक तो उपक्रमके रूपमें हैं और अन्तिम एक श्लोक उपसंहारके रूपमें है; शेष बीचके चार श्लोकोंको 'चतुःश्लोकी भागवत' के नामसे कहा जाता है।

श्रीस्कन्दपुराणके वैष्णवखण्डान्तर्गत श्रीमद्भागवतमाहात्म्यमें बतलाया गया है—

ज्ञानविज्ञानभक्त्यङ्गचतुष्टयपरं वचः ।
मायामर्दनदक्षं च विद्धि भागवतं च तत् ॥
प्रमाणं तस्य को वेद ह्यनन्तस्याक्षरात्मनः ।
ब्रह्माणे हरिणा तद्वित् चतुःश्लोक्या प्रदर्शिता ॥

(अ० ४ । ५-६)

'जो वाक्य ज्ञान, विज्ञान, भक्ति एवं इनके अङ्गभूत चार प्रकारके साधनोंको प्रकाशित करनेवाला है तथा जो मायाका मर्दन करनेमें समर्थ है, उसे 'श्रीमद्भागवत' समझो। श्रीमद्भागवत अनन्त अक्षरस्वरूप है; इसका नियत प्रमाण भला, कौन जान सकता है। पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीके प्रति चार श्लोकोंमें इसका दिग्दर्शन कराया था।'

चतुःश्लोकी भागवत

श्रीभगवानुवाच—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम् ।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ॥ ३० ॥

श्रीभगवान् बोले—

	(ब्रह्मन् !)	सरहस्यम्	=रहस्यसहित
मे	=मेरा	तदङ्गम्	=उसके अङ्गोंका
यत्	=जो	मया	=मेरेद्वारा
परमगुह्यम्	=परम गोपनीय	गदितम्	=वर्णन किया जाता है,
विज्ञानसमन्वितम्	=विज्ञानसहित		
ज्ञानम्	=ज्ञान है, उसका	(तत्)	=उसे
च	=तथा	गृहाण	=तुम ग्रहण करो ।

व्याख्या—ब्रह्मन् ! मेरे निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघनस्वरूपके तत्त्व, प्रभाव, माहात्म्यका यथार्थ ज्ञान ही 'ज्ञान' है तथा सगुण निराकार और दिव्य साकार स्वरूपके लीला, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और

माहात्म्यका वास्तविक ज्ञान ही 'विज्ञान' है। यह विज्ञानसहित ज्ञान समस्त गुह्य और गुह्यतर विषयोंसे भी अतिशय गुह्य—गोपनीय है, इसलिये यह परम गुह्य—सबसे बढ़कर गुप्त रखने योग्य है। ऐसे परम गोपनीय ज्ञानके साधनोंका मैं रहस्यसहित वर्णन करता हूँ, तुम उसे सुनकर धारण करो।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अर्जुनसे भी प्रायः इसी प्रकार कहा है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

(९।१)

'तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस गुह्यतम—परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको (पुनः) भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा।'

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥ ३१॥

अहम्	=मैं	तत्त्वविज्ञानम्	=उन सबके तत्त्वका विज्ञान
यावान्	=जितना हूँ,		
यथाभावः	=जिस भावसे युक्त हूँ,	ते	=तुम्हें
यद्रूपगुणकर्मकः	=जिस रूप, गुण और लीलाओंसे समन्वित हूँ,	मदनुग्रहात्	=मेरी कृपासे
		तथैव	=ज्यों-का-त्यों
		अस्तु	=प्राप्त हो जाय।

व्याख्या—सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, स्थूल-सूक्ष्म, जड-चेतन, यावन्मात्र—जितना जो कुछ भी है, वह सब मैं परब्रह्म परमात्मा ही हूँ तथा मैं सच्चिदानन्दमय भावस्वरूप हूँ एवं क्षमा, दया, शान्ति, समता, ज्ञान, प्रेम, उदारता, वात्सल्य, सौहार्द आदि

अनन्त असीम दिव्य गुणोंसे सम्पन्न तथा लोगोंका उद्धार करनेके लिये नानाविध दिव्य अलौकिक कर्म लीलाओंसे युक्त जो मेरा सगुण-साकार रूप है, मेरे उस विज्ञानसहित ज्ञानमय समग्र स्वरूपका तत्त्व तुम्हें मेरी कृपासे ज्यों-का-त्यों प्राप्त हो जाय।

अहमेवाससमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥ ३२॥

अग्रे	=सृष्टिके पूर्व	असत्	=असत् (क्षर)
एव	=भी	परम्	=और उससे परे (पुरुषोत्तम) है, (वह सब मैं ही हूँ।)
अहम्	=मैं		
एव	=ही		
आसम्	=था;	पश्चात्	=(तथा) सृष्टिकी सीमाके बाद भी
अन्यत्	=मुझसे भिन्न कुछ भी		
न	=नहीं था।	अहम्	=मैं ही हूँ।
च	=और	यः	=(एवं इन सबका नाश हो जानेपर) जो कुछ
यत्	=(सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद) जो कुछ भी		
		अवशिष्येत	=बच रहता है,
एतत्	=यह दृश्यवर्ग है, (वह मैं ही हूँ।)	सः	=वह (सब भी)
		अहम्	=मैं (ही)
यत्	=जो	अस्मि	=हूँ।
सत्	=सत् (अक्षर)		

व्याख्या—सृष्टि— महासर्गके पूर्व भी मैं ही था। मेरे सिवा और कुछ भी नहीं था। और सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह दृश्यवर्ग है, वह मैं ही हूँ तथा सत्—अक्षर और असत्—क्षर एवं उससे परे जो पुरुषोत्तम ईश्वर है, सब मेरा ही स्वरूप है (**'सदसच्चाहमर्जुन'**—गीता ९।१९; **'सदसत् तत्परं यत्'**—गीता ११।३७)। तथा सृष्टिकी सीमाके पश्चात्—जहाँ सृष्टि नहीं है, वहाँ

जो केवल निर्विशेष सच्चिदानन्द ब्रह्म है, वह भी मैं ही हूँ और सृष्टिका विनाश होनेपर जो शेषमें बच रहता है, वह भी मैं ही हूँ ।

अभिप्राय यह कि जैसे बादलोंके उत्पन्न होनेसे पहले केवल आकाश ही था, उसके सिवा और कुछ भी नहीं था तथा बादल और उनका गरजना-बरसना, बिजलीका चमकना आदि सब आकाश ही है; क्योंकि आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई है—'**आकाशाद् वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी ।**' (तैत्तिरीय-उप० वल्ली २ अनु० १) । अतः आकाश ही वायु, तेज, जल, पृथ्वीका मूल कारण होनेसे यह सब कुछ आकाश ही है तथा जहाँ बादल नहीं हैं, वहाँ बादलोंकी सीमाके परे भी आकाश ही है एवं बादल आदिका विनाश होनेपर केवल आकाश ही रह जाता है। उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें तथा उसकी सीमाके परे भी सदा ही विद्यमान रहते हैं।

भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।

(१० । ३२ का पूर्वार्ध)

'अर्जुन ! सृष्टियोंका आदि और अन्त तथा मध्य भी मैं ही हूँ।'

यद्यापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥

(गीता १० । ३९)

'एवं अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ; क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी प्राणी नहीं है, जो मुझसे रहित हो ।'

अतः भागवतके उपर्युक्त श्लोकमें भगवान्‌ने ब्रह्माजीको यही भाव समझाया है—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति ।

(गीता ७ । ७)

'मुझसे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है।'

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥ ३३ ॥

यथा	=जैसे	च	=एवं
आभासः	=आभास अर्थात् किसी वस्तुका प्रतिबिम्ब वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है, प्रतीतिमात्र ही है, (उसी प्रकार)	यथा	=जैसे (विद्यमान होते हुए भी)
		तमः	=तम अर्थात् राहु ग्रहकी (इसी प्रकार वास्तवमें सत् होते हुए भी जो मुझ परमात्माकी)
अर्थम्	=(मुझ) परमार्थ वस्तुरूप परमात्माके	न प्रतीयेत	=प्रतीति नहीं होती।
ऋते	=अतिरिक्त	तत्	=यह दोनों प्रकारकी ही
आत्मनि	=परमात्मामें		
यत्	=जो कुछ	आत्मनः	=मेरी
प्रतीयेत	=प्रतीत होता है, (वह वास्तवमें कुछ नहीं है।)	मायाम्	=माया है—यों
		विद्यात्	=समझना चाहिये।

व्याख्या—जैसे नेत्रोंके दोषसे आकाशमें तिलमिले या जाले-से दिखलायी पड़ते हैं अथवा दर्पणमें प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, पर वास्तवमें वे हैं नहीं, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्मामें परमात्मासे भिन्न प्रकृतिका कार्यरूप यह जडवर्ग माया (अज्ञान) के कारण बिना हुए ही प्रतीत होता है; तथा जैसे आकाशमें विद्यमान रहते हुए भी राहु ग्रह दिखलायी नहीं पड़ता, उसी प्रकार वह सच्चिदानन्द परमात्मा वास्तवमें ध्रुव सत्य होनेपर भी माया (अज्ञान) के कारण प्रतीत नहीं होता। बिना

हुए ही इस जड संसारकी प्रतीति होना और वास्तवमें सत् होते हुए भी परमात्माकी प्रतीति न होना— इन दोनोंमें माया (अज्ञान) ही कारण है।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥ ३४॥

यथा	=जैसे	तथा	=उसी प्रकार
उच्चावचेषु भूतेषु	=प्राणियोंके छोटे-बड़े शरीरोंमें	तेषु	=उनमें (मैं प्रविष्ट हूँ भी)
महान्ति भूतानि	=(आकाशादि पाँच) महाभूत	तेषु	=(और) उनमें
अनुप्रविष्टानि	=प्रविष्ट भी हैं (और)	अहम्	=मैं
अप्रविष्टानि	=प्रविष्ट नहीं भी हैं,	न	=प्रविष्ट नहीं भी हूँ।

व्याख्या—जैसे पाँचों महाभूत प्राणियोंके छोटे-बड़े शरीरोंमें प्रविष्ट हैं, उसी प्रकार मैं उन सब शरीरोंमें प्रविष्ट हूँ; परंतु पाँचों महाभूत उन शरीरोंमें प्रविष्ट नहीं भी हैं, उसी प्रकार मैं भी उनमें प्रविष्ट नहीं भी हूँ।

भाव यह है कि जैसे आकाशके कार्यरूप बादलोंके समुदायमें आकाश प्रविष्ट है, किंतु वास्तवमें वह उनमें प्रविष्ट नहीं है, अपने-आपमें ही स्थित है; क्योंकि बादलोंके नाशसे आकाशका नाश नहीं होता, बादलोंके न रहनेपर भी आकाश रहता है और बादलोंके एक स्थानसे दूसरे स्थानमें चले जानेपर आकाशका उनके साथ गमन नहीं होता; इस दृष्टिसे बादलोंमें होते हुए भी आकाश उनमें प्रविष्ट नहीं है। आकाशकी भाँति ही कोई भी महाभूत अपने कार्यमें प्रविष्ट नहीं है। उसी प्रकार परमात्मा भी समस्त जगत्में प्रविष्ट हैं परंतु वास्तवमें वे जगत्में प्रविष्ट नहीं हैं; अपने-आपमें ही स्थित हैं, क्योंकि वे निर्विकार, निष्क्रिय और निर्लेप हैं। समस्त जगत्का नाश होनेपर भी परमात्मा

विद्यमान रहते हैं। जिस जगह जगत् नहीं है, वहाँ भी परमात्मा विद्यमान हैं।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥ ३५ ॥

आत्मनः	=परमात्माके		ऐसे भी नहीं'—इस भावसे
तत्त्वजिज्ञासुना	=तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले मनुष्यको	एतावत्	=इतना
अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम्	=विधिरूपसे अर्थात् 'परमात्मा ऐसे है,' 'परमात्मा ऐसे है'—इस भावसे तथा निषेधरूपसे अर्थात् 'परमात्मा ऐसे भी नहीं', 'परमात्मा	एव	=ही
		जिज्ञास्यम्	=जानना आवश्यक है
		यत्	=कि (परमात्मा ही)
		सर्वत्र	=सब देशमें
		सर्वदा	=(और) सब कालमें
		स्यात्	=विद्यमान हैं।

व्याख्या—परमात्मा विज्ञानानन्दघन हैं, सदा सबमें समभावसे स्थित हैं, सर्वव्यापी, सर्वत्र परिपूर्ण और परम शान्तिस्वरूप हैं, इत्यादि जो परमात्माके स्वरूपका वर्णन विधिरूपसे किया जाता है—यही परमात्माके स्वरूपका 'अन्वय' रूपसे वर्णन है। एवं परमात्मा आकारवाला नहीं, विकारोंवाला नहीं, क्रियावाला नहीं, मनके द्वारा चिन्तनमें आनेवाला नहीं, संकेतमें आनेवाला नहीं, व्यक्त नहीं, चलनशील नहीं, सान्त नहीं, सीमावाला नहीं, इत्यादि जो परमात्माके स्वरूपका निषेधरूपसे वर्णन किया जाता है—यही परमात्माके स्वरूपका 'व्यतिरेक' रूपसे वर्णन है।

परमात्माके स्वरूपको तत्त्वतः जाननेकी इच्छावाले साधकको चाहिये कि उपर्युक्त दोनों प्रकारोंसे यही निश्चय करे कि एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही सब देश और सब कालमें विद्यमान हैं, उनसे भिन्न कुछ नहीं है।

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥ ३६॥

	(ब्रह्मन्!)		हो जाओ।
भवान्	=तुम		(इससे तुम)
परमेण	=उत्कृष्ट	कल्पविकल्पेषु	=कल्प-कल्पान्तरों-
समाधिना	=समाधिके द्वारा		में भी
एतत्	=मेरे इस	कर्हिचित्	=कभी कहीं भी
मतम्	=सिद्धान्तमें	न विमुह्यति	=मोहित नहीं
समातिष्ठ	=भलीभाँति स्थित		होओगे।

व्याख्या—ब्रह्मन्! तुम सब प्रकारके विकल्पोंसे रहित परम समाधिमें स्थित होकर निश्चयपूर्वक मेरे इस उपर्युक्त सिद्धान्तको समझकर उसमें भलीभाँति स्थित हो जाओ। यों करनेसे तुम अनेक कल्प-कल्पान्तरोंमें सृष्टिकी रचना करते हुए कभी कहीं भी मोहित नहीं होओगे।

इस प्रकार भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीको आदेश दिया है। अतः साधकको चाहिये कि वह सब प्रकारसे यही निश्चय करे कि एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही सब देश और सब कालमें विद्यमान हैं, उनसे भिन्न कुछ नहीं है। यों करनेसे वह शोक-मोहादि सम्पूर्ण विकारों और दुःखोंसे मुक्त हो परमानन्द और परमशान्तिस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो सकता है।

आप ईश्वरके किसी भी नाम या किसी भी रूपमें श्रद्धा करें, आपकी वह श्रद्धा ईश्वरमें ही समझी जायगी; क्योंकि सभी नाम-रूप ईश्वरके हैं। आपको जो धर्म प्रिय हो, जिस ऋषि, महात्मा या महापुरुषपर आपका विश्वास हो, आप उसीपर श्रद्धा करके उसीके अनुसार चल सकते हैं। आवश्यकता श्रद्धा-विश्वासकी है। ईश्वर, धर्म और परलोक आदि विशेष करके श्रद्धाके ही विषय हैं। इनका प्रत्यक्ष तो अनेक प्रयत्नोंके साथ विशेष परिश्रम करनेपर होता है। आरम्भमें तो इन विषयोंके लिये किसी-न-किसीपर विश्वास ही करना पड़ता है, ऐसा न करे तो मनुष्य नास्तिक बनकर श्रेयके मार्गसे गिर जाता है, साधनसे विमुख होकर पतित हो जाता है।

'शीघ्र कल्याणके सोपान' नामक पुस्तकसे

आजकल संसारमें साम्यवादकी बड़ी चर्चा है। सब बातोंमें समताका व्यवहार हो, इसीको लोग साम्यवाद समझ रहे हैं और ऐसा ही उद्योग कर रहे हैं जिससे व्यवहारमात्रमें समता आ जाय। परन्तु विचारकर देखनेसे पता लगता है कि परमात्माकी इस विषम सृष्टिमें सभी व्यवहारोंमें समता कभी हो ही नहीं सकती और होनेकी आवश्यकता भी नहीं है। न संसारमें सबकी आकृति एक-सी है, न बुद्धि, बल, शरीर, स्वभाव, गुण और कर्म आदिमें ही समता है। ऐसी अवस्थामें देश काल, पात्र और पदार्थोंमें सर्वत्र समानभावसे समता कदापि सम्भव नहीं है। इसीसे ऐसा साम्यवाद सफल नहीं होता और न कभी हो सकता है।

'अमूल्य शिक्षा' नामक पुस्तकसे

'सात्त्विक आचरण और भगवान्‌की विशुद्ध भक्तिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर जब भ्रम मिट जाता है, तभी साधक कृतकृत्य हो जाता है।'

'भगवान् गुणातीत हैं, बुरे-भले सभी गुणोंसे युक्त हैं और केवल सद्‌गुण-सम्पन्न हैं।'

'भगवान् चाहे जैसे, चाहे जब, चाहे जहाँ, चाहे जिस रूपमें प्रकट हो सकते हैं।'

'चराचर ब्रह्माण्ड ईश्वर है, उसकी सेवा ईश्वरकी सेवा है। संसारको सुख पहुँचाना परमात्माको सुख पहुँचाना है।'

'निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक विधिसहित जप करनेवाला साधक बहुत शीघ्र अच्छा लाभ उठा सकता है।'

'भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी विशुद्ध प्रेमभक्ति और भगवत्-साक्षात्कारके सिवा अन्य किसी भी सांसारिक वस्तुकी कामना, याचना या इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये।'

'भगवान्‌में सच्चा प्रेम होने तथा भगवान्‌की मनोमोहिनी मूर्तिके प्रत्यक्ष दर्शन मिलनेमें विश्वास ही मूल कारण है।'

'निराकार-साकार सब एक ही तत्त्व है।'

'वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वगुण-सम्पन्न, सर्वसमर्थ, सर्वसाक्षी, सत्, चित्, आनन्दघन परमात्मा ही अपनी लीलासे भक्तोंके उद्धारके लिये भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करके अनेक लीलाएँ करता है।'

'उस परमात्माके शरण होना साधकका कर्तव्य है, शरण होनेके बाद तो प्रभु स्वयं सारा भार सँभाल लेते हैं।'

'**अमूल्य वचन**'नामक पुस्तकसे

ईश्वर, महात्मा, शास्त्र और परलोकमें विश्वास करनेवाले पुरुषसे कभी पाप नहीं बन सकते। उसमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, समता और शान्ति आदि अनेक गुण अनायास ही आ जाते हैं, जिससे उसके सारे आचरण स्वाभाविक ही उत्तम-से-उत्तम होने लगते हैं।

(सत्सङ्गकी कुछ सार बातें नामक पुस्तकसे)

थोड़ी देरका कुसंग भी मनुष्यके लिये बहुत हानिकारक हो जाता है—इस बातको ध्यानमें रखकर नास्तिक, नीच, प्रमादी, भोगी, पापी, निकम्मे, आलसी, दूसरोंपर निर्भर रहकर जीवन-निर्वाह करनेवाले, बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण करनेवाले, खेल-तमाशा और मादक वस्तुओंका सेवन करनेवाले दुर्व्यसनी स्त्री या पुरुषोंका कभी भूलकर क्षणमात्र भी संग नहीं करना चाहिये और प्रमाद, आलस्य, निद्रा, भय, उद्वेग, राग, द्वेष अहंकार और दुर्व्यसन आदिसे रहित होकर अपना जीवन विवेक, वैराग्य, त्याग और संयमपूर्वक निष्कामभावसे भजन-ध्यान, सत्संग-स्वाध्यायमें ही बिताना चाहिये तथा सम्पूर्ण प्राणिमात्रको परमात्माका स्वरूप समझकर, आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर निष्कामभावपूर्वक तन-मनसे सबकी सेवा करनी चाहिये एवं सबपर समान भावसे हेतुरहित दया और प्रेम रखना चाहिये।

(महत्त्वपूर्ण-शिक्षा नामक पुस्तकसे)

स्त्रियोंको शौचाचार, सदाचार और अन्तःकरणकी पवित्रतापर विशेष ध्यान देना चाहिये। शरीर और घरकी सफाई आदि शौचाचारके ही अङ्ग हैं तथा सबके साथ उत्तम व्यवहार करना सदाचार है। शौचाचार और सदाचार—ये दोनों ही अन्तःकरणकी पवित्रतामें बहुत ही सहायक हैं। काम-क्रोध, लोभ-मोह, अभिमान-अहंकार, राग-द्वेष, मद-मत्सर आदि दुर्गुणोंका अभाव एवं पूर्वसंचित पापोंका नाश ही अन्तःकरणकी पवित्रता है। अतः इनके नाशकी विशेष चेष्टा रखनी चाहिये। आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक शिक्षाकी पुस्तकोंको स्वयं पढ़ना और बालकोंको भी पढ़ाना चाहिये।

(स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा नामक पुस्तकसे)